

## मीमांसा दर्शन में अर्थ-घटन के सिद्धांत

डॉ० श्यामल किशोर

भाषा के अर्थ बोध के संबंध में भारतीय भाषा-दर्शन का एक विवादास्पद, महत्वपूर्ण एवं गंभीर प्रश्न यह रहा है कि सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ को एक स्वतः पूर्ण, निरवयव और अविभाज्य इकाई माना जाए या वाक्य के अवयव-भूत पदों के अलग-अलग अर्थों की स्वतंत्र सत्ता मान कर पदों या पदार्थों की किसी शक्ति से एक वाक्यार्थ के रूप में उन अर्थों का घटन माना जाए। मीमांसा दर्शन वाक्यार्थबोध के स्वरूप विषयक उपरोक्त प्रश्न के संबंध में दो अलग-अलग दृष्टि लेकर बहुत ऊहापोह किये गये हैं, जो अन्विताभिधानवाद तथा अभिहितान्वयवाद के नाम से विख्यात हैं। वाक्यार्थ शैली के विशेष विवेचन के कारण मीमांसा को वाक्यशास्त्र कहा जाता है। वाक्यार्थबोध-विषयक इन दो दृष्टियों का विवेचन-विश्लेषण अपेक्षित है—

### अभिहितान्वयवाद

कुमारिल भट्ट के वाक्यार्थबोध के स्वरूप के संबंध में अभिहितान्वयवादी दृष्टि का प्रवर्तन किया। 'अभिहितस्य कथितस्य परस्परम् अन्वयं वदति यः स अभिहितान्वयवादी' अर्थात् कथित पदार्थों के अन्वय को जो प्रतिपादित करे उसे 'अभिहितान्वयवादी' कहते हैं। अर्थात् किसी भी वाक्य में जो अनेक शब्द रहते हैं, वे अनेक अपने-अपने अर्थ को कहकर विरमित हो जाते हैं और बाद में उन सभी शब्दों को एक सूत्र में बाँधकर सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ को प्रतिपादित करने वाली शक्ति 'तात्पर्या' नाम की शक्ति का बोध कराती है। कुमारिल भट्ट के मतानुसार 'गाम् आनय' में गाम् का अर्थ स्पष्ट है कि यह 'गो' का कर्मकारक है और 'आनय' का अर्थ है 'लाओ'। दोनों शब्दों के मिलने से 'गाय लाओ' यह अर्थ स्पष्ट हो गया। इसी को न्याय में भी अभिहितान्वयवाद कहते हैं।

इस प्रकार, कुमारिल के मतानुसार किसी वाक्य में प्रयुक्त पद पहले अपनी-अपनी अभिधा शक्ति से अपने-अपने विच्छिन्न अर्थों का बोध कराते हैं और तदनन्तर वे पदार्थ अपनी अन्तर्निहित तात्पर्या-शक्ति से पारस्परिक अन्वय का बोध कराते हुए एक पूर्ण वाक्यार्थबोध में परिवर्तित होते हैं। अतः वाक्य स्वयं अर्थ देने में समर्थ नहीं है बल्कि अपने अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए शब्दों के अर्थ की सहायता लेता है। अतः वाक्य का अर्थ परोक्ष रूप से प्राप्त होता है।

अभिहितान्वयवादी कुमारिल भट्ट की मान्यता है कि वाक्य के अवयवभूत पद पहले अपनी-अपनी मुख्य शक्ति से अपने साक्षात् संकेतित अर्थों का बोध कराते हैं, जो

{ 2 }

### वर्ष 52-दार्शनिक त्रैमासिक - अंक - 3

अर्थ स्वतंत्र और अन्य-निरपेक्ष होते हैं और फिर वे अर्थ वाक्य के तीन तत्वों - आकांक्षा, योग्यता और आसक्ति कर वाक्यार्थ के रूप में पारस्परिक संबंध का बोध कराते हैं ।

जैमिनीय सूत्र के भाष्य में शबर स्वामी ने पद के अर्थबोधक शक्ति पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि सभी पद अपनी शक्ति से अपने-अपने अर्थ का असम्बद्ध रूप से बोध करा देते हैं । अर्थबोध करा लेने पर पदों की शक्ति कृत कार्य होकर विरत हो जाती है । जब पद के अर्थ बोधगत हो जाते हैं तब वे अर्थ को अपनी शक्ति से अपने पारस्परिक संबंध का बोध कराते हुए एक वाक्यार्थ का बोध उत्पन्न करते हैं । इससे स्पष्ट होता है कि कुमारिल भट्ट ने वाक्यार्थबोध - प्रक्रिया के संबंध में शबर स्वामी के द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धांत की नींव पर ही अपने अभिहितान्वयवादी चिन्तन का प्रासाद खड़ा किया ।

#### अन्विताभिधानवाद

प्रभाकर ने वाक्यार्थबोध के स्वरूप के संबंध में अन्विताभिधानवादी दृष्टि का प्रवर्तन किया । 'अन्वितस्य परस्परमिलितस्यैव अभिधानं कथनं वदति यः स अन्विताभिधानवादी' अर्थात् वाक्यों में आये हुए परस्पर अन्वित होकर ही सामूहिक रूप में अर्थ प्रकाशन करते हैं । इसके लिए किसी विशेष शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है । अर्थात् वाक्यार्थ को ही भाषिक बोध की मूल इकाई स्वीकार कर वाक्य में पदों के पूर्वअन्वित अर्थ की अभिव्यक्ति माननेवाला यह सिद्धांत 'अन्विताभिधानवाद' के नाम से विख्यात हुआ । वस्तुतः पद स्वतंत्र रूप से भाषा में प्रयुक्त ही नहीं हो सकते । प्रयोग में आने के लिए उन्हें वाक्य का अंग बनना पड़ता है और तब वाक्य के अंगभूत सभी पद वाक्यार्थ की सिद्धि में सहायक होने में ही उनकी सार्थकता रह जाती है । पद स्वतंत्र रूप से भाषा में प्रयुक्त नहीं होते, वाक्य का रूप ग्रहण कर ही - वाक्य के अंग बन कर ही-प्रयुक्त होते हैं ।

भाषिक प्रयोग के मूल में निहित मनोवैज्ञानिक तथ्य पर विचार करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वक्ता अपने पूर्ण समन्वित विचार को व्यक्त करने के लिए ही वाक्य का प्रयोग करता है और श्रोता भी वाक्य में व्यक्त विचार को पूर्णता में ही ग्रहण करता है । वाक्यार्थबोध की प्रक्रिया में अलग-अलग पद के परस्पर निरपेक्ष अर्थ का अलग-अलग बोध प्राप्त कर लेने के उपरान्त उनके बीच संबंध का बोध प्राप्त करने का क्रम नहीं रहा करता, इसके विपरीत पूर्ण और समन्वित वाक्यार्थ का बोध प्राप्त कर ही भाषिक विश्लेषण में वाक्य के अवयवों का अलग-अलग विवेचन किया जा सकता है । तात्पर्य यह है कि

भाषिक बोध के स्वरूप विश्लेषण में पद पदार्थ की स्वतंत्र सत्ता की उपादेयता भले ही हो, वाक्य में अर्थबोध में समष्टि अर्थ-पूर्व अन्वित पदार्थ ही महत्व रखता है ।

‘न्यायरत्नमाला’ में अभिहितान्वयवादी तथा अन्विताभिधानवादी भाषा दृष्टियों में यह भेद बताया गया है कि यद्यपि दोनों मतों में समानरूप से वाक्य के अंगभूत पदों के अर्थों में पारस्परिक संबंध-बोध को वाक्यार्थबोध का स्वरूप माना गया है, फिर भी दोनों मतों में यह भेद है कि जहाँ अन्विताभिधानवादी अन्वित अर्थ को ही शब्द की अभिधा शक्ति से बोधगम्य मानते हैं, वहाँ अभिहितान्वयवादी शब्द की अभिधाशक्ति से असम्बद्ध या अन्य निरपेक्ष पदार्थों का ही बोध स्वीकार करते हैं ।

अभिहितान्वयवादी कुमारिल किसी भाषिक उक्ति की मूल इकाई पद और उसके अर्थ को मानते हैं, जबकि अन्विताभिधानवादी प्रभाकर की दृष्टि में वाक्य और वाक्यार्थ की भाषा की मूल और अखण्ड इकाई है । न्यायमंजरी में इन दोनों की वाक्यार्थ धारणा में भेद-अभेद की स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि भाषिक अर्थ बोध में महत्वपूर्ण बात होती है, व्युत्पत्ति । व्युत्पत्ति से ही शब्द अर्थ-विशेष का बोध कराता है । प्रश्न यह है कि क्या सम्पूर्ण वाक्य की एक वाक्यार्थ में व्युत्पत्ति मानी जाए या पद की पदार्थ में व्युत्पत्ति मानी जाए ? अन्विताभिधानवादी सम्पूर्ण वाक्य की वाक्यार्थ में व्युत्पत्ति मानते हैं और अभिहितान्वयवादी पद की पदार्थ में व्युत्पत्ति स्वीकार करते हैं ।

अभिहितान्वयवादी तथा अन्विताभिधानवादी विचारधाराओं में मुख्यधाराओं में मुख्य मतभेद संसर्ग बोधक-शक्ति के स्वरूप को लेकर है । हम देख चुके हैं कि उस शक्ति को अन्विताभिधानवादी शब्द में निहित मानते हैं और अभिहितान्वयवादी शब्दार्थ में । दोनों विचारणाओं में यह भी अन्तर है कि जहाँ अन्विताभिधानवादी उस शक्ति के शब्द की मुख्य या अभिधा शक्ति मानते हैं, वहाँ अभिहितान्वयवादी उसे अर्थनिष्ठ गौणी वृत्ति या लक्षणाशक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं ।

मीमांसा दर्शन में वाक्यार्थ-बोध की समस्या के संदर्भ में अन्विताभिधानवाद तथा अभिहितान्वयवादी, इन दोनों मतों का संक्षिप्त विवेचन के बाद अब मैं अपना भी दृष्टिकोण रखने का प्रसास करूँगा । हमारी विनम्र मान्यता है कि वाक्यार्थ-बोध की शक्ति वाक्य की अवयवभूत पदों में ही मानी जानी चाहिए । भाषिक प्रयोग का यह वैशिष्ट्य है कि जब अर्थवान प्रातिपदिक और धातु व्युत्पादक तथा संबंधबोधक प्रत्ययों के योग से व्युत्पन्न होकर वाक्य में प्रयुक्त होने के योग्य बनते हैं, तब उन पदों में न केवल अर्थबोधक शक्ति रहती है, अपितु संबंध बोधक शक्ति भी रहा करती है । अर्थबोधक शक्ति प्रातिपदिक और धातु में भी रहती है । इसीलिए वे अर्थवान होते हैं, पर उनमें भाषा में प्रयुक्त होने की

{ 4 }

वर्ष 52-दार्शनिक त्रैमासिक - अंक - 3

योग्यता नहीं रहती। इसका कारण यह है कि वे अव्युत्पन्न रूप में अपने वाच्य अर्थों के बीच पारस्परिक संबंध का बोध नहीं करा सकते। वाक्य में प्रयुक्त व्युत्पन्न पद अपने-अपने अर्थ का बोध कराने के साथ ही उनमें पारस्परिक संबंध का भी बोध करा देते हैं। अतः वाक्यार्थ-बोध में पदों के अर्थों के बीच संबंध-बोध के लिए पृथक् शक्ति की कल्पना अनावश्यक है जैसी कल्पना अभिहितान्वयवादियों ने की है। वाक्य के अवयवभूत पदों के अर्थों में पद की शक्ति से विशिष्ट संबंध का बोध होता है, यह मान्यता ही आर्थिक युक्ति-संगत जान पड़ती है। फिर भी अखंड बोध में सहायक अर्थवान पदों के स्वतंत्र अर्थों के बोध की वाक्य के अवयवों की उपेक्षा करना उचित नहीं।

अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग,  
किसान कालेज, सोहसराय,  
(नालंदा), बिहार

संदर्भ-संकेत

१. इस विषय में डा० गंगानाथ झा रचित 'प्रभाकर मीमांसा' और एस० एन० दास गुप्ता द्वारा लिखी 'स्टडी आफ पंतजलि' का परिशिष्ट देखिए।
२. पदानि हि स्वं स्वमर्थमभिधाय निवृत्ति-व्यापाराणि।  
अथेदानी पदार्था अवगताः सन्तो वाक्यार्थभगमयन्ति ॥  
जै० सू०, शाबर भाष्य, १, १, २५.....
३. द्रष्टव्य - पार्थसारथि मिश्र, न्यायरत्नमाला, वाक्यार्थ निर्णय, खंड, पृ०-१०३
४. अत्रेदं विचार्यम्। व्युत्पत्तिर्बलीयसी-न शब्दोऽथमवगमयति व्युत्पत्तिमन्तरेण।  
व्युत्पत्तिश्च किं वाक्यस्य वाक्यार्थे पदस्य वा पदार्थे इति। यदि वाक्यस्थ  
वाक्यार्थे व्युत्पत्तिस्तदन्विताभिधानम्। पदस्य पदार्थे व्युत्पत्तौ अभिहितान्वय -  
इति। न्यायमंजरी, खंड-१, पृ०-३६४
५. द्रष्टव्य - पार्थसारथि मिश्रा, न्यायरत्नमाला, वाक्यार्थ निर्णय, पृ०-१२५.



## शंकर तथा ब्रैडले : तुलनात्मक दर्शन के परिप्रेक्ष्य में

प्रो० निर्मला कुमारी झा

आज के इस भूमंडलीकरण के युग में विज्ञान तथा सूचना-प्रौद्योगिकी ने अंतर्राष्ट्रीय पटल पर हमें एक-दूसरे से काफी नजदीक ला दिया है। देश तथा काल की दूरी काफी सिमटती नजर आ रही है। एक-दूसरे की वैचारिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा अन्य क्षेत्रों में आपसी दूरी कम होती जा रही है। सारे विश्व की मानवता एकजुट हो रही है। पूरब और पश्चिम की दूरी यद्यपि भौगोलिक स्तर पर तो कम नहीं की जा सकती, परन्तु वैचारिक स्तर पर काफी हद तक कम होता हुआ दृष्टिगत हो रहा है। प्राचीन तथा अर्वाचीन, प्राच्य तथा पाश्चात्य वैचारिक चिन्तन में सेतु स्थापित करने का कार्य कई पाश्चात्य एवं भारतीय चिन्तकों ने किया है और यह कार्य तुलनात्मक विचारधारा के तहत ही संभव हुआ है। पी० टी० राजू के शब्दों में - 'तुलनात्मक दर्शन यथार्थतः प्राच्य एवं पाश्चात्य दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन है।'

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विचारों के आदान-प्रदान के समय के सम्बन्ध में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, परन्तु इतना तो अवश्य ही है कि आपसी सम्पर्क में आने के बाद ही एक-दूसरे के विचारों से अवगत हुआ जा सकता है। इतिहासकारों ने प्राचीन काल से ही भारतीयों के सुदूर यात्राओं का वर्णन बड़े ही तथ्यात्मक ढंग से किया है। इस संदर्भ में ग्रीक और भारतीय दर्शन का एक दूसरे पर प्रभाव देखा जा सकता है, परन्तु निश्चित रूप से कोई ठोस प्रमाण नहीं दिये जा सकते। जहाँ तक मेरी समझ है, ऐसा लगता कि विज्ञान के विकास के साथ-साथ आपसी सम्पर्क बढ़ने पर ही विचारों का भी आदान-प्रदान संभव हुआ होगा। इसी के परिणामस्वरूप विभिन्न आर्थिक, नैतिक, राजनैतिक, सामाजिक, वैचारिक तथा आध्यात्मिक पहलुओं से लोग रूबरू हुए होंगे।

२०वीं शताब्दी को तुलनात्मक दर्शन का प्रारम्भ माना जाता है जब प्राच्य और पाश्चात्य दार्शनिक विचारधाराओं का तुलनात्मक विमर्श किया गया। जैसे - कांट एवं अद्वैत वेदान्त के प्रत्ययवादी विचारधाराओं की तुलना। परन्तु यदि दर्शन के इतिहास का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो ऐसा परिलक्षित होता है कि वैंलेण्टाइन को तुलनात्मक

{ 6 }

### वर्ष 52-दार्शनिक त्रैमासिक - अंक - 3

दर्शन का संस्थापक माना जा सकता है, जिन्होंने सन् १९५१ में ही न्याय दर्शन एवं पाश्चात्य (इंग्लैण्ड) दर्शन की तुलना अनुभववाद के धरातल पर किया था। अपने वैज्ञानिक व्याख्या के द्वारा उन्होंने इस बिन्दु (यथार्थवाद और तर्कशास्त्र) को खोज निकाला जहाँ भारतीय एवं पाश्चात्य विचारधारा आपस में मिलती है। प्लेटो, ब्रैडले, हेगेल इत्यादि की प्रत्ययवादी धारा को अद्वैतवेदान्त की विचारधाराओं से तुलना करना अपने आप में अदभुत प्रयास कहा जा सकता है।

भारतीय दर्शन में डॉ० एस० राधाकृष्णन् को तुलनात्मक दर्शन का प्रणेता माना जा सकता है, जिन्होंने प्राच्य एवं पाश्चात्य दर्शनों का गंभीर अध्ययन कर एक ऐसी प्रणाली को स्थापित किया जिसके परिणामस्वरूप पूरब और पश्चिमी विचारधाराओं के बीच एक सेतु स्थापित हुआ। उन्होंने पश्चिमी संसार में भारतीय चिन्तन को सबल एवं तार्किक रूप से स्थापित किया एवं समन्वयात्मक प्रक्रिया द्वारा एक-दूसरे को काफी नजदीक लाने में सफलता प्राप्त किया। पी०टी० राजू ने भी इसे स्वीकार करते हुए कहा है कि दर्शन के स्तर पर राधाकृष्णन् ने पूरब एवं पश्चिम के समन्वय को मूर्तिमान रूप प्रदान किया। डॉ० राधाकृष्णन्, दासगुप्त, हाइनरिश आदि लेखकों द्वारा भारतीय दार्शनिक प्रणाली का मुख्य रूप से माधवाचार्य प्रणीत सर्वदर्शन संग्रह के ढांचे में अध्ययन पाश्चात्य दार्शनिक प्रणाली के परिप्रेक्ष्य में होने लगा, जिसमें रवीन्द्रनाथ टैगोर, अरविन्द इत्यादि महान विभूतियों का काफी योगदान रहा। राधाकृष्णन् ने यह विचार प्रस्तुत किया कि अद्वैत वेदान्त का तुलनात्मक अध्ययन अन्य भारतीय विचारधाराओं के साथ ही नहीं बल्कि पाश्चात्य विचारधाराओं के साथ भी किया जा सकता है। बाद में पी० टी० राजू ने राधाकृष्णन् के नेतृत्व में तुलनात्मक दर्शन की प्रणाली, विषय, उद्देश्य, पद्धति तथा अन्य पक्षों पर विस्तृत प्रकाश डाला। इस कार्य में अमरीका के आर्ची बाम ने भी काफी सकारात्मक सहयोग किया है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रारम्भ में पाश्चात्य जगत में भारतीय दर्शन को दर्शन माना ही नहीं जाता था। इसे मात्र आध्यात्मिक एवं पारलौकिक विद्या माना गया है जब कि पाश्चात्य दर्शन को बौद्धिक एवं इहलौकिक। दोनों के बीच तुलना को हमेशा नकारा ही गया। इस आशय की एक टिप्पणी की घोषणा १९३९ ई० में होनोलुलु हवाई में की गयी कि तुलनात्मक दर्शन न तो संभव है और न ही वाँछनीय।

भारतीय दर्शन को व्यावहारिक माना गया, जब कि पाश्चात्य दर्शन को सैद्धान्तिक। अतः पाश्चात्य दार्शनिक भारतीय दर्शन को दर्शनशास्त्र के रूप में मान्यता देने में हमेशा हिचकिचाहट महसूस करते रहे। परन्तु उन्होंने यह नहीं देखा कि सुकरात, प्लेटो, हेगेल, अरस्तू इत्यादि सरीखे दार्शनिकों ने किस प्रकार सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, नैतिक इत्यादि मानवीय व्यावहारिक पक्ष को स्पष्ट रूप से उजागर किया है। न्याय एवं सांख्य दर्शन के वैज्ञानिक ज्ञान प्रणाली पर भी पाश्चात्य जगत ने ध्यान नहीं दिया। चार्वाक का भौतिकवादी दृष्टिकोण भी उनकी नजरों से दूर ही रहा। अद्वैत वेदान्त का विशाल एवं अदभुत ज्ञान भंडार भी पाश्चात्य दृष्टिकोण में परिवर्तन नहीं ला सका। अतः प्राच्य एवं पाश्चात्य विचारधारा के बीच तुलनात्मक अध्ययन का प्रश्न ही नहीं उठा। और तो और भारतीय एवं अन्य एशियाई दर्शनों का पठन-पाठन यूरोप में अभी भी प्राच्य-विद्या विभागों एवं भारतीय विद्या विभागों में ही होता है।

तुलनात्मक दर्शन २०वीं शताब्दी की एक नवीन विधा है। इसमें मात्र तुलना ही नहीं होती, अपितु दो परम्पराओं, सभ्यताओं एवं संस्कृतियों की तुलना के माध्यम से सम्बन्ध एवं ऐक्य स्थापित करना भी इसका एक प्रमुख उद्देश्य है। प्राच्य एवं पाश्चात्य समाजों में स्थापित सांस्कृतिक एवं नैतिक मापदण्डों के आधार पर ज्ञान एवं ज्ञानेतर क्षेत्रों का आपसी समन्वय भी इसके अन्तर्गत आता है। सिर्फ अपनी ही संस्कृति को नहीं, बल्कि दूसरों की संस्कृति को भी उचित मान्यता देना, उसे समझना परखना इत्यादि विश्लेषणत्मक क्रिया-कलाप भी इसका उद्देश्य है। किसी न किसी बिन्दु पर किन्हीं दो विषयों में समानता मिलती है और उन समानताओं में कुछ असमानताएँ भी रहती हैं। तुलना चाहे शंकर और ब्रैडले में करें, गीता के निष्काम कर्म या काण्ट के निरपेक्ष आदेश में करें, सांख्य एवं देकार्त के द्वैतवाद में ही क्यों न करें, उनमें समानताएँ तो मिलती हैं, परन्तु उनमें समानताओं के अतिरिक्त कुछ असमानताएँ भी अवश्य ही रहती हैं। इन्हीं असमानताओं को आधार बनाकर कई विचारकों ने तुलनात्मक दर्शन को अनावश्यक करार दे दिया है। परन्तु वे भूल जाते हैं कि हर दार्शनिक विचार की अपनी एक पृष्ठभूमि होती है। स्थान विशेष की सामाजिक परिस्थिति से विचार प्रभावित होते हैं और प्रत्येक स्थान की सामाजिक परिस्थिति भिन्न होती है। अतः असमानता का होना तो अवश्यम्भावी है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि तुलनात्मक विचारधारा के अस्तित्व को ही समाप्त कर

दिया जाए ।

तुलनात्मक दर्शन के नाम पर कुछ छिट-पुट अनुसंधानात्मक कार्य भारत में तथा अन्यत्र भी किये जा रहे हैं, परन्तु वांछनीय उत्कर्ष का भी अभाव है । मेरी समझ में इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि कुछ तुलनाकारों ने भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शनों की तुलना एक की संस्कृति और विचारों की श्रेष्ठता को दूसरे से अधिक प्रदर्शित करने के लिए किया । थिली ने तो यहाँ तक कह दिया कि भारत में दर्शन है ही नहीं, यदि है तो सिर्फ धार्मिक विचार । कोपलेस्टन ने भी अपनी पुस्तक में भारतीय दर्शन का कहीं जिक्र तक नहीं किया है । यदि यही प्रवृत्ति रही तो तुलनात्मक दर्शन का अस्तित्व खतरे में भी पड़ सकता है । जिस प्रकार सोचना, विचारना मानव मस्तिष्क की स्वाभाविक क्रिया है, उसी प्रकार अन्य दार्शनिक विचारों से अवगत होने पर उनका तुलनात्मक विवेचन भी एक स्वस्थ एवं स्वाभाविक मानसिक प्रक्रिया ही है, परन्तु आवश्यकता है- खुले मस्तिष्क से विचारों के आदान-प्रदान की ।

तुलनात्मक दर्शन के उपर्युक्त पृष्ठभूमि में अब इस निबन्ध के माध्यम से मैं शंकर तथा ब्रैडले के तत्त्वमीमांसीय अवधारणाओं का तुलनात्मक विवेचन करना चाहती हूँ । शंकर एवं ब्रैडले ने इन विषयों पर पर्याप्त विस्तृत विवरण दिया है । दोनों के विचार में काफी समानताएँ भी हैं परन्तु दार्शनिक पृष्ठभूमि में अंतर के कारण यत्र-तत्र अंतर भी दिखाई देता है । तुलनात्मक दर्शन का एक कार्य यह भी है कि वह निष्पक्ष भाव से दो या दो से अधिक विचारों में तुलना करे और दोनों के अंतर की विशद् व्याख्या करे । तदुपरान्त अधिक तर्कसंगत विचार का समर्थन भी करे । यद्यपि यह कार्य उतना आसान है नहीं, क्योंकि ऐसे कार्य में पूर्वाग्रह की संभावना बनी रहती है । फिर भी किसी विशेष पक्ष की ओर झुकाव को प्रश्रय न देकर पक्षपात रहित निर्णय ही श्रेयस्कर है ।

सर्वविदित है कि शंकराचार्य अद्वैत वेदान्त के समर्थक हैं । उन्होंने ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य माना है - 'ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य माना है - 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' । इसे ही सत् या सत्ता या सत्य भी कहा गया है । इसकी संख्या एक है, परन्तु नानारूपात्मक संसार में इसे अनेक कहा गया है - 'एकं सद्द्विप्रा बहुधा वदन्ति' । यह सर्वव्यापक यथार्थ सत्ता है, जिसके स्वरूप को समझ लेने का अर्थ है सब समझ लेना । यह देश, काल, चेतना सबसे भिन्न है । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इसका स्वरूप लक्षण है

अर्थात् - ब्रह्म सत्य और अनन्त ज्ञान स्वरूप है । शंकराचार्य ने ब्रह्म का विचार दो दृष्टिकोण से किया है - व्यावहारिक दृष्टिकोण तथा पारमार्थिक दृष्टिकोण । व्यावहारिक दृष्टिकोण से जगत को सत्य माना है और ब्रह्म को उसका मूल कारण, सृष्टिकर्ता, पालक, संहारक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान कहा है । इसी अर्थ में निर्गुण ब्रह्म जो कि निराकार भी है, उसे शंकर ने सगुण ब्रह्म अर्थात् ईश्वर की संज्ञा दी है । परन्तु ये सभी गुण ब्रह्म के तटस्थ लक्षण हैं, स्वरूप-लक्षण नहीं । सृष्टिकर्ता होना ब्रह्म का औपाधिक गुण है; वास्तविक स्वरूप नहीं । उदाहरणस्वरूप - एक नट रंगमंच पर राजा का अभिनय करता है, शासक और विजेता के रूप में । नाटक समाप्त हो जाने पर वह व्यक्ति पुनः नट बन जाता है । राजा, शासक, विजेता होना, उसका तटस्थ लक्षण है, स्वरूप लक्षण नहीं, क्योंकि वह वास्तव में नट होता है, राजा नहीं । पारमार्थिक दृष्टिकोण से ब्रह्म निर्गुण, निराकार, निरवयव तो होता ही है, जीव के कोई भी गुण उसमें आरोपित नहीं किए जा सकते । उसमें इतना ऐक्य है कि उसका कोई भेद भी नहीं हो सकता । वह सजातीय, विजातीय तथा स्वगत सभी भेदों से रहित है । यहाँ शंकर का रामानुज से भिन्नता है, क्योंकि रामानुज ब्रह्म की संख्या तो मानते हैं, परन्तु उसमें स्वगत भेद को भी स्वीकार करते हैं । चित् तथा अचित् दोनों तत्त्वों का आश्रय स्थान ब्रह्म को ही मानते हैं । अतः रामानुज विशिष्टाद्वैत के समर्थक हैं जब कि शंकर अद्वैत के । शंकर का ब्रह्म विश्वातीत है और यही परब्रह्म है ।

उपनिषदों में ब्रह्म को 'नेति नेति' कहा गया है । शब्दों के द्वारा इसका वर्णन नहीं किया जा सकता है । ब्रह्म यह भी नहीं है, वह भी नहीं है । इसका अर्थ यह नहीं कि ब्रह्म शून्य है । वह न तो सत् है न असत्, परन्तु उस अर्थ में नहीं जिस अर्थ में हम सांसारिक वस्तुओं को भावात्मक या अभावात्मक समझते हैं । अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि अमुक वस्तु ब्रह्म नहीं है, किन्तु यह नहीं कह सकते कि ब्रह्म है क्या । यह स्थिरता, परिवर्तन, सम्पूर्ण, इकाई, सापेक्ष, निरपेक्ष, सीमित, असीम इत्यादि सभी परस्पर विरोधी भावों से परे है । दैशिक, चेतन, प्रतीतिरूप जगत सबसे भिन्न है । इसे सच्चिदानन्द कहा गया है । यह सत् है जिसका तात्पर्य यह है कि यह असत् नहीं है, यह चित् है जिसका तात्पर्य है कि यह अचित् नहीं है । यह आनन्द है जिसका तात्पर्य है कि यह दुःखस्वरूप नहीं है । पाश्चात्य दार्शनिक स्पिनोजा भी इस तथ्य को स्वीकार

करते हैं, जब वे कहते हैं - प्रत्येक विशेषण का अर्थ है निषेध ( Every determination is negation) अपरिणामी होते हुए भी अनिर्वचनीय शक्ति द्वारा ब्रह्म अपने आप को अनेक रूपों में उद्भासित करता है। उसी को मायाशक्ति सम्पन्न सृष्टिकर्ता ईश्वर कहते हैं। यही सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ ईश्वर सगुण ब्रह्म है। ब्रह्म चैतन्य की चार अवस्थाएँ होती हैं - (१) परमब्रह्म, (२) ईश्वर, (३) हिरण्यगर्भ और (४) वैश्वानर। आपाततः ये चार अवस्थाएँ क्रमिक सी लगती हैं, तथापि ये एक साथ ही कही जा सकती हैं, क्योंकि शुद्ध चैतन्य (शुद्धसत्ता) का कभी लोप नहीं होता। चूँकि आचार्य शंकर अद्वैतवाद के समर्थक हैं अतः इनके अनुसार एक विषय का दूसरे विषय से भेद, ज्ञाता-ज्ञेय का भेद, जीव-ईश्वर का भेद - ये सब माया के खेल हैं। इनके मत से 'एक ही सत् तत्त्व' वास्तविक है और 'अनेकत्व' मिथ्या है।'

ब्रह्म को शंकर यदा-कदा सत्ता भी कहते हैं। सत्ता को उन्होंने तीन तरह का कहा है- (१) पारमार्थिक सत्ता, (२) व्यावहारिक सत्ता तथा (३) प्रातिभाषिक सत्ता। एक मात्र परब्रह्म को ही परिमार्थिक सत्ता, ईश्वर को व्यावहारिक सत्ता और जगत् के सभी सजीव, निर्जीव वस्तुओं को प्रातिभाषिक सत्ता माना गया है। यद्यपि ईश्वर को परब्रह्म का औपाधिक रूप माना है, फिर भी शंकर उसे कम महत्वपूर्ण नहीं मानते हैं। ईश्वर के ज्ञान के बिना हमारी आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। यही वह सोपान है जिसके माध्यम से सर्वोच्च शिखर (परब्रह्म) तक पहुँचा जा सकता है। सृष्टिकर्ता, पालक और संहारक के रूप में ईश्वर ही व्यावहारिक जगत् का उपास्य है। प्रथमतः जगत् ही सत्य है, द्वितीयतः जगत् और ईश्वर दोनों ही सत्य हैं और तृतीयतः केवल ईश्वर ही सत्य है। शंकर के अनुसार ईश्वर ही सगुण ब्रह्म है।

शंकर जगत् की तुलना स्वप्न या भ्रम से करते हैं, तत्त्वज्ञान हो जाने पर जिसका तिरोभाव हो जाता है। माया को ईश्वर की शक्ति कहा गया है। ऋग्वेद में भी कहा गया है कि एक ही इन्द्र माया के प्रभाव से नाना रूपों में प्रकट होते हैं - 'इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते', जिस तरह अग्नि की दाहकता अग्नि से अभिन्न है, उसी प्रकार माया भी ईश्वर से अभिन्न है। इसी शक्ति के द्वारा ईश्वर नानास्वरूप संसार की सृष्टि की लीला करता है। इस लीला को अज्ञानी सत्य समझ लेते हैं, परन्तु तत्त्वदर्शी सिर्फ ब्रह्म को ही सत्य समझते हैं। जिस प्रकार अंधेरा के कारण रस्सी में सर्प दिखाई देता है और प्रकाश होने पर सर्प

को लोप हो जाता है, परन्तु यथार्थ ज्ञान प्राप्ति के बाद सम्पूर्ण जगत ब्रह्ममय दिखाई देता है। उनके लिए न भ्रम है न माया। वे ईश्वर को भी मायावी नहीं मानते। शक्तिरूप में माया ब्रह्म से भिन्न पदार्थ नहीं है। ऐसा कुछ भी नहीं है जो उसमें अन्तर्निहित नहीं है, परन्तु शंकर ब्रह्म में किसी भी प्रकार के परिवर्तन को नहीं मानते और यहीं पर रामानुज से उनका मतान्तर हो जाता है।

शंकर आत्मा के अस्तित्व को भी स्वीकार करते हैं और उसे शुद्ध चैतन्य स्वरूप मानते हैं। किसी विषय की सीमा से बद्ध नहीं रहने के कारण यह अनन्त तथा सर्वव्यापी है। सत्य, अनन्त तथा ज्ञानस्वरूप होने के कारण सभी भूतों में वही आत्मा है (सर्व-भूतात्मा) अतः यह एक है इसे ही कभी ब्रह्म, कभी आत्मा और कभी सिर्फ सत् कहा गया है - सर्व खलु इदं ब्रह्म, अयं आत्मा ब्रह्म इत्यादि।

शंकर के तात्त्विक विचारों के संक्षिप्त विवरण के बाद जैसा कि प्रस्तुत लेख के प्रारम्भ में ही संकेत किया गया है, ब्रैडले के तत्त्वमीमांसीय अवधारणाओं के विश्लेषण भी आवश्यक एवं उचित है। यहाँ यह कह देना प्रासंगिक है कि एफ० एच० ब्रैडले के दर्शन को ठोस अनुभूतियों के धरातल पर खड़ा करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार दर्शन जिस 'सत्' की बात करता है, वह जीवन का ही सत् है, जीवन से ही एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में प्राप्त होता है। उनके अनुसार जीवन की प्रत्येक अनुभूतियों पर यदि ध्यान दिया जाए तो सभी अनुभूतियाँ एक-दूसरे से भिन्न एक नवीन दिशा की ओर इंगित करती हैं। इन्हीं अनुभूतियों की मध्यस्थता से परम सत् के क्रमशः जिस स्पष्ट होते हुए चित्र को वे प्राप्त करते हैं, वह अपूर्व है। इस सत् को ही उन्होंने परम 'अनुभूति' (Absolute experience) की संज्ञा दी है। इसी मूल स्वीकृति के आधार पर वे विचारों के माध्यम से सत् के परम निरपेक्ष स्वरूप को व्यंजित करते हैं। इस दृष्टि से सत् वह है, जिनमें विसंगतियों का अभाव है और कहा जा सकता है कि वह संगति है। संगति को ब्रैडले आकारिक संगति से भिन्न मानते हैं, उसमें अनुभव की विशेषता है। जब तक सभी कुछ को आत्मसात् नहीं कर लेता, तब तक उसके लिए स्थायी संगति संभव नहीं है। 'संगति' और 'व्यापकता' को वे पर्यायवाची मानते हैं। इन दोनों पक्षों को समन्वित रूप से प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले 'सर्वान्तर्भूतकारी सम्पूर्णता (All-inclusive whole) शब्द का प्रयोग करते हैं। इसे ही मूर्त्सामान्य भी कहा है और

बोसांक्वे ने अपने गिफर्ड लेक्चर्स में इसे ही व्यष्टित्व शब्द से विभूषित किया है ।

ब्रैडले ने 'व्यापकता' का विशेष अर्थ का प्रयोग किया है । परम सत् मात्र अपकर्षण की प्रक्रिया का परिणाम नहीं है, अर्थात् वह एक अमूर्त सामान्य नहीं, जिसमें यथार्थ के सभी वैविध्यों का निषेध हो जाता है । कहा जा सकता है कि परम सत् अपनी समस्त यथार्थता के साथ तथ्यात्मक जगत स्वयं है । वह विश्व के वैविध्य का निषेध नहीं बल्कि इन सभी को अपने में समाविष्ट करता है । ब्रैडले के अनुसार सत् एक है, समग्र है । इसके विपरीत प्रतीत होने वाली वस्तु सत् नहीं हो सकती । परस्पर स्वतंत्र सत्ताएँ संभव नहीं है सत्ता को ब्रैडले ने चेतना स्वरूप कहा है । सत् होना या अस्तित्ववान् होना तभी संभव है, जब वह चेतना में हो । उदाहरणार्थ कोई भी ऐसी वस्तु की हम कल्पना नहीं कर सकते, जो अस्तित्व में हो और चेतन न हो । अर्थात् चेतना के अभाव में सत्ता का चिन्तन नहीं किया जा सकता । इतना ही नहीं, ब्रैडले सत् को पूर्ण तो मानते ही हैं, उसमें विभाजन का कोई स्थान नहीं देते । संक्षेप में कहा जा सकता है कि सत् एक समग्र, पूर्ण, चेतन एवं अविभाज्य है । यही कारण है कि उन्होंने मूलगुण तथा उपगुण, विशेष्य तथा विशेषण, सम्बन्ध तथा गुण इत्यादि की विशद् व्याख्या की है तथा उसे असत् माना है । सत् को उन्होंने एक सर्वग्राही अनुभव कहा है, जिसमें सब भेद एक रस होकर समाहित है । निरपेक्ष एक ऐसा क्रम है जिसकी सामग्री चेतन अनुभव के अलावा अन्य कुछ नहीं ।

समस्त दृष्टिगोचर होने वाली सान्त सत्ताओं तथा उनके गुण, उपगुण, कारणता, विशेषण इत्यादि को ब्रैडले सत् का अभाव मानते हैं । अतः वे सभी अपूर्ण तथा असत्य हैं, परन्तु वे सभी समान मात्रा में असत्य या अपूर्ण नहीं हैं । दूसरी ओर ब्रैडले यह भी कहते हैं कि आभास सान्त होते हुए भी बिल्कुल विभ्रम या त्याज्य नहीं है, क्योंकि सत्ता अपने को उन आभासों के माध्यम से अभिव्यक्त कर रही है । सत्ता में कोई भेद नहीं होता, क्योंकि वह पूर्ण है और पूर्णता में न्यूनता या अधिकता को प्रश्न नहीं उद्गता । मात्रा शब्द का प्रयोग केवल सीमित सत्ताओं के संदर्भ में ही सार्थक है । आभासों को ही हम उच्च या निम्न कह सकते हैं । दो प्रस्तुत आभासों में से एक जो अधिक विस्तृत, विशाल एवं समन्वयशील है वह सत् के अधिक करीब है । इसे सत् में परिणत करने के लिए थोड़ा ही परिवर्तन करना पड़ेगा । ब्रैडले का यह विचार भी अनुभूति से सम्बन्धित है । उन्होंने

यह संभावना भी व्यक्त की है कि पूर्णता एवं पुनर्व्यवस्था द्वारा असत्य आभास भी सत्य में रूपान्तरित हो सकती है ।

शंकर तथा ब्रैडले के उपर्युक्त तात्त्विक विवेचनाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि दोनों के विचार एक-दूसरे के काफी नजदीक तथा मिलते-जुलते नजर आते हैं । दोनों ने ही सत् या सत्ता को एक समग्र, पूर्ण सभी विरोधों से रहित तथा अविभाज्य माना है । शंकर के जैसा ही ब्रैडले भी ईश्वर के अस्तित्व को भी मानता है, परन्तु निरपेक्ष सत् की अवस्था के रूप में । दोनों ही निरपेक्ष सत्ता को ही एक मात्र सत् मानते हैं और साथ ही प्रत्यक्ष जगत और जगत की सभी वस्तुओं के अस्तित्व को भी स्वीकार करते हैं, तथा दोनों में संबंध भी स्थापित करते हैं । दूसरे शब्दों में दोनों ने ही आभास के अस्तित्व को माना है और उसमें मात्रा भेद को भी । शंकर का विभिन्न दृष्टिकोण तथा पारमार्थिक, व्यावहारिक एवं प्रतिभासिक सत्ता की बातें भी ब्रैडले के आभास की मात्रा बोध से ही मेल खाता है । दोनों यह स्वीकार करते हैं कि माया या आभास की परिणति भी संभव है । संक्षेप में कहा जा सकता है कि तत्त्वमीमांसीय धरातल पर दोनों एक-दूसरे के काफी नजदीक दिखाई देते हैं ।

सरसरी निगाह से देखने पर शंकर और ब्रैडले का तत्त्वमीमांसीय विचार काफी हद तक समान हैं, परन्तु यदि सूक्ष्म विश्लेषण किया जाए तो दोनों विचारकों के विचार में अंतर स्पष्ट दिखाई देता है । शंकर का ब्रह्म शुद्ध रूप से तत्त्वमीमांसा का विषय है, जबकि ब्रैडले का सत् ज्ञानमीमांसा से प्रेरित है । सत् को ब्रैडले अनुभव निरपेक्ष मानते हैं और उसे 'परम अनुभूति' की संज्ञा देते हैं, जब कि शंकर का ब्रह्म शुद्ध चैतन्य और व्यावहारिक जगत से परे है । व्यावहारिक दृष्टि से इसे जाना भी नहीं जा सकता, यह अनिर्वचनीय है । ब्रैडले ने सत् में हमारी विसंगतियों का समावेश कर दिया है तथा इसे चेतन भी कहा है, परन्तु चेतन और चैतन्य का अंतर विचारणीय है । यद्यपि ब्रैडले ने सत् में विभाजन को स्वीकार नहीं किया है, परन्तु सत् में मात्रा भेद को महत्वपूर्ण स्थान दिया है, क्योंकि आभास को भी सत् में ही अन्तर्निहित मानता है । अर्थात् अधिक सत् और कम सत् की बात की गयी है, जबकि शंकर के ब्रह्म में अधिक या कम का कोई प्रश्न ही नहीं है । ब्रह्म एक ऐसा अमूर्त प्रत्यय है, जिसमें स्वगत भेद की कल्पना नहीं की जा सकती । स्मरणीय है कि ब्रैडले ने मूर्त सत् की बात की है । शंकर के अनुसार

आभास या माया का अस्तित्व ज्ञान प्राप्ति के बाद समाप्त हो जाता है और इसी अर्थ में उन्होंने एक मात्र ब्रह्म को ही यथार्थ कहा है, जबकि ब्रैडले ने आभास की सत्ता को सत् का ही एक अंश माना है और अंतिम रूप से इसके नाश को स्वीकार नहीं करते। सत् से पृथक कहीं दृश्य जगत में वह हो ही नहीं सकता। सभी आभास अंततः एक सत् में ही अस्तित्ववान् होते हैं। ब्रैडले के अनुसार आभास को न तो निराकृत किया जा सकता है और न ही इससे छुटकारा मिल सकता है। ब्रैडले का परम तत्त्व असंख्य आभासों से घटित एक संयुक्त अवयवी है जबकि शंकर का ब्रह्म निरवयव, निराकार, निर्गुण है। इन भिन्नताओं के अतिरिक्त मैं एक और महत्वपूर्ण बिन्दु पर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहूँगी, जिस पर सामान्यतः तुलना कर्ताओं ने विशेष ध्यान नहीं दिया है और वह है ईश्वर। शंकर यद्यपि एकमात्र ब्रह्म को ही सत्य मानते हैं, परन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से ईश्वर को भी जगत कर्ता के रूप में मानते हैं और ब्रह्म तक पहुँचने का इसे एक सोपान मानते हैं। साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि जब हम इस जगत से परे होकर आध्यात्मिक ऊँचाइयों को प्राप्त कर लेते हैं, तब ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं होती, सम्पूर्ण विश्व ब्रह्ममय हो जाता है। परन्तु ब्रैडले ईश्वर को भी परम तत्त्व की अवस्था मानते हैं। कहा जा सकता है कि ब्रैडले का ईश्वर परम तत्त्व का आभास है।

### निष्कर्ष

तुलनात्मक दर्शन के परिप्रेक्ष्य में शंकर एवं ब्रैडले के तत्त्वमीमांसीय अवधारणों पर विचार करने के परिणामस्वरूप कुछ ऐसे अनछुए पहलू उजागर होते हैं, जिसे आप विद्वज्जनों के सामने प्रस्तुत करना चाहूँगी। यह ठीक है कि दोनों के विचारों में काफी हद तक सामंजस्य है, परन्तु अलग-अलग दार्शनिक पृष्ठभूमि के कारण मूल प्रश्न पर ही इनके विचार की दिशा भिन्न-भिन्न परिलक्षित होती है। शंकर के ब्रह्म का साक्षात्कार हो सकता है, अर्थात् ज्ञान प्राप्ति के बाद ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप की अनुभूति हो सकती है और परिणामस्वरूप आभास या माया का स्वतः नाश हो जाता है, जबकि ब्रैडले का परम तत्त्व मात्र ज्ञान का विषय है इसका साक्षात्कार हो सकता है या नहीं, इस प्रश्न पर ब्रैडले मौन हैं। द्वितीयतः, ब्रैडले का परम तत्त्व भले ही अद्वैत हो, परन्तु शंकर के जैसा इसे हम कार्य-कारणातीत अद्वैत न कहकर मिश्रित अद्वैत (complexunity) कह सकते हैं, क्योंकि शुद्ध अद्वैत में आभासों का योग कथमपि संभव नहीं है। यदि ब्रैडले

के आभासों को परम तत्त्व से पृथक कर दिया जाए तो उनका अद्वैत निश्चय ही शून्य में विलीन हो जाएगा। दूसरे शब्दों में ब्रैडले का परम तत्त्व एकवादी (monistic) हो सकता है, शंकर के जैसा अद्वैत नहीं। इन्हीं विचारों के साथ एक और विचारणीय बिन्दु यह है कि ब्रैडले का परम तत्त्व जिसे वह चेतन अनुभव कहता है, शंकर के चैतन्य स्वरूप ब्रह्म से कैसे मेल खा सकता है? अनन्त ज्ञानस्वरूप ब्रह्म को शंकर ने चैतन्यस्वरूप भी कहा है, साथ ही 'इहामुत्रार्थफलभोगविरागः' की भी चर्चा करते हैं। ऐसी स्थिति में ब्रैडले के चेतन अनुभव को हम कहाँ तक एक ही तुला पर रख कर परख सकते हैं? हम बुद्धिजीवियों के सामने यह विकट प्रश्न उपस्थित हो जाता है और इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने के लिए मैं आप विद्वज्जनों को ही अधिकृत करती हूँ और आशा करती हूँ कि कभी न कभी आपकी अन्तःअनुभूति हमारा मार्ग अवश्य ही प्रशस्त करेगी।

स्नातकोत्तर, दर्शनशास्त्र विभाग  
बी० आर० अम्बेदकर बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

### संदर्भ

१. राजू, पी० टी० - लेक्चर्स ऑन कॉम्परेटिव फिलॉसोफी, पृ०-१
२. राजू, पी० टी० - द फिलॉसोफी ऑफ सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, पृ०-५९
३. टैगोर, रवीन्द्रनाथ - द कॉनसेप्ट ऑफ इण्डियन कल्चर, सोसायटी फॉर प्रमोशन ऑफ नेशनल एजुकेशन, ओडियार, मद्रास, १९१९.
४. राधाकृष्णन्, एस० -ईस्टर्न रेलिजन्स एण्ड वेस्टर्न थॉट, क्लैसेन्डन प्रेस ऑक्सफोर्ड, १९३९.
५. राजू, पी० टी० - इन्ट्रोडक्शन टू कॉम्परेटिव फिलॉसोफी यूनीवर्सिटी ऑफ नेब्रास्का प्रेस, १९६२.
६. बाम, आर्ची -कॉम्परेटिव फिलॉसोफी: वेस्टर्न इण्डियन एण्ड चाइनीज फिलॉसोफीज कम्पेयर्ड, विवेक पब्लिसिंग हाउस, प्रा० लि०, दिल्ली, १९७७.
७. शांकरभाष्य, वृहदारण्यक उपनिषद्, २;४.७.
८. तैत्तिरीय उपनिषद् २/१.

{ 16 }

वर्ष 52-दार्शनिक त्रैमासिक - अंक - 3

९. शांकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र पर, २/१/१८.
१०. केन उपनिषद्, १/५.
११. मुसलगांवकर, डॉ० श्रीगजानन शास्त्री- 'वेदान्त परिभाषा', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९८३, पृ०-२८-२९.
१२. राधाकृष्णन्, डॉ० एस०- भारतीय दर्शन भाग-२, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, नई दिल्ली, १९७२. पृ०-५२१.
१३. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, ४.३, १४.
१४. राधाकृष्णन्, एस० - भारतीय दर्शन, भाग-२, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, नई दिल्ली, १९७२, पृ०-५३२-३३.
१५. वृहदारण्यकोपनिषद् - २/५/१९
१६. छांदोग्य उपनिषद् - ३/१४/१
१७. वृहदारण्यक उपनिषद् - २/५/१९
१८. बोसांके, बी० - लॉजिक बुक-11, पृ०-२६७.
१९. ब्रैडले, एफ० एच० - एपियरेन्स एण्ड रियलिटी, पृ०-१२३.
२०. वही, पृ०-१२७.
२१. वही, पृ०-१२९.
२२. वही, पृ०-१२९.
२३. वही, पृ०-३१८.
२४. दास, रास बिहारी - एपियरेन्स, इन्डियन फिलॉसेफिकल, क्वार्टरली, भाग-८, पृ०-३५.
२५. ब्रैडले, एफ० एच० - एपियरेन्स एण्ड रियलिटी, पृ०-३९७.



## अनेकान्तवाद की अवधारणा

राहुल कुमार सिंह

जैन दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है, 'बहुलवादी एवं सापेक्षतावादी यथार्थवाद' यह सत्ता की दृष्टि से 'अनेकान्तवाद' और ज्ञान की दृष्टि से स्याद्वाद है। इसके अनुसार वस्तु जगत को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है और किसी भी एक दृष्टिकोण को प्रामाणित नहीं माना जा सकता। इसीलिए कोई भी एक कथन ऐसी किसी चीज की पूर्ण व्याख्या नहीं कर सकता जो अत्यन्त जटिल और अनेकान्त हो। अनेके अन्ताः धर्माः यास्मिन् असौ इति अनेकान्तः - अर्थात् जिसमें अनेक धर्म पाये जाएँ वह अनेकान्त है और ऐसी अनन्त धर्मात्मक वस्तुओं का विविध दृष्टिकोणों से कथन करना अनेकान्तवाद है।

मनुष्य का समग्र जीवन सत्य की खोजों का परिणाम है। मानव सृष्टि के आदि काल से सत्य की खोज हो रही है। हजारों वर्षों से मनीषियों, ऋषिमुनियों, योगियों तथा वैज्ञानिकों ने सत्य की खोज या शोध में अपने को गला-खपा दिया है। सत्य की खोज में मानव का भटकाव कम नहीं रहा है। वह विचारों के अरण्य में, आग्रह के गिरि शिखरों पर, विरोध के तूफान में तथा एकाकीपन के श्मशान में भटक गया है, खो गया है। वह सत्य का स्पर्श करना चाहता है, पर सत्य है कि छिटक जाता है। अंधे की भांति हाथी के किसी एक अवयव को पकड़कर उसने मान लिया है कि सत्य यही और इतना ही है। आग्रह या 'मैं' इतना तीव्र और तेज है कि आँख खुलती ही नहीं और खोलने की चाह भी नहीं। वस्तुतः विवेक नेत्र का नाम ही अनेकान्त है। विवेक की आँख खुलते ही संपूर्ण हाथी का-सत्य का दर्शन होने लगता है। और आग्रह अहंकार की ऐंङ्गन राख हो जाती है प्रतिकूलता अनुकूलता में बदल जाती है।

अनेकान्तवाद के प्राचीनतम बीज बौद्ध साहित्य में भी मिलते हैं तथा मुख्य रूप से जैनागमों में अनेकान्तवाद के बीज बिखरे पड़े हैं, परन्तु ग्रन्थों का समय निश्चित न होने के कारण उनके विषय में विशेष नहीं कहा जा सकता। भगवती सूत्र में उल्लेख है कि तीर्थंकर महावीर को कैवल्य ज्ञान होने के पूर्व जो दस महास्वप्न दिखाई दिये थे उनमें से तृतीय स्वप्न था 'चित्र विचित्र पंखयुक्त पुंस्कोकिल' को देखना। यहां चित्र विचित्र पंख

युक्त होने को अनेकान्तवाद का सार्थक प्रतीक कहा जा सकता है तथा लोकों की शाश्वतता-अशाश्वतता, नित्यता-अनित्यता, तथा जीव की शाश्वतता-अशाश्वतता, नित्यता-अनित्यता एवं पुद्गलों की शाश्वतता-अशाश्वतता, नित्यता-अनित्यता के संदर्भ में महावीर और गौतम तथा महावीर और जमाली के बीच हुआ संवाद जो भगवती सूत्र में वर्णित है, से अनेकान्तवाद का पता चलता है ।

अनेकान्तवाद विभिन्न दृष्टिवादों का सम्बन्धात्मक रूप है । अपने विचारों का दुराग्रह और दूसरों के विचारों की अस्वीकृति, मतभेद और संघर्ष को उत्पन्न करने में कारण बनते हैं । प्रत्येक चिन्तक और वक्ता किसी न किसी दृष्टि से अपने चिन्तन अथवा कथन में सत्यांश को समाहित किये हुए रहता है । उसे अस्वीकार करना सत्य को स्वीकार करना है । इन सभी सत्यों पर विचार करना अनेकान्तवाद है और इसकी अभिव्यक्ति प्रणाली को स्याद्वाद कहा जाता है ।

जैन दर्शन तत्त्व को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य संयुक्त मानता है । ध्रौव्य नित्यता का सूचक है तथा उत्पाद और व्यय परिवर्तन अनित्यता के सूचक हैं । महावीर प्रतिपादित करते हैं कि जो वस्तु नित्य मालूम पड़ती वह अनित्य भी है तथा जो क्षणिक प्रतीत होती है वह नित्य भी है, नित्यता और अनित्यता सापेक्ष है । इसीलिए जैन दर्शन यह मानता है कि जिस दृष्टि से जिस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है उसी दृष्टि से उसका उत्तर देना चाहिए । इस प्रकार अपेक्षा भेद से एक प्रश्न के अनेक उत्तर हो सकते हैं । जैन की यह मान्यता है कि जगत में पदार्थ अनन्त हैं और हर पदार्थ में अनन्त गुण हैं । उनका पूर्णतः ज्ञान एक साधारण व्यक्ति को नहीं हो सकता है । अतः वह एक पदार्थ को जब जैसा देखता है वैसा समझ लेता है । जैसे एक ही व्यक्ति पुत्र है अपेक्षा भेद से वह कई तरह का है । इसी तरह जिस किसी भी पदार्थ को हम देखते समझते हैं उसे अपनी अपनी दृष्टि से समझते हैं ।

आचार्य विनोबा भावे जी ने कहा है- 'अनेकान्तवाद, यह वाद नहीं एक पहचान है, दृष्टि है । सत्य ग्रहण करना है तो बीच के पूर्ण सत्य को पकड़ना चाहिए । हर एक के पहलू को महत्व देना चाहिए तब सर्वांगीण सत्य का ग्रहण होगा । यह जो मध्यस्थ दृष्टि है वह महावीर की खूबी है' । विनोबा जी का एक महत्वपूर्ण विचार यह भी है कि-

भाष्यकार एक पहलू को गौण मानते हैं और एक को मुख्य मानते हैं इस प्रकार गौण मुख्य भेद करके वे अर्थ (व्याख्या) करते हैं लेकिन महावीर गौण मुख्य भेद नहीं करते थे। यह मध्यस्थ दृष्टि महावीर की अहिंसा है। ....महावीर स्वामी जो भी मनुष्य उनके पास आता था, उसके अनुकूल विचार क्या है, यह प्रथम देखते थे। तो चर्चा के लिए आया हुआ मनुष्य मानता था कि उसके विचार का मण्डन हुआ और उसकी प्रतिष्ठा हो जाती थी। बेसिक फिलॉसिफी मिल गयी विचार की दूसरी बाजू भी हो सकती है यह उनका अहिंसा का विचार था। बाद में लोगों ने इसे बहुत बड़ा नाम दे दिया 'स्याद्वाद' मैंने इसे नाम दिया है- 'अपिसिद्धान्त' - यह भी ङ्गीक है वह भी ङ्गीक है।

जैसे ताली दोनों हाथों से बजती है, बीणा के तारों से स्वर अंगुलियों के स्पर्श से ही निकलता है, पैरों में गति दोनों पैरों को आगे पीछे करने से ही आती है, इन्द्रियां पारस्परिक सहयोग से ही अपना काम सहज करती हैं उसी प्रकार समाज का जीवन विरोधों के समन्वय से सहिष्णुता से चलता है। अंग्रेज राज्य के जमाने में पंडित जवाहर लाल नेहरू कहा करते थे कि 'हम झुक जायेंगे लेकिन टूटेंगे नहीं', और नेता जी सुभाष चन्द्र बोस का कहना था कि हम 'हम टूट जायेंगे लेकिन झुकेंगे नहीं'। ये दोनों वचन परस्पर विरोधी लगते हैं किन्तु यह दोनों वचन हमें अंग्रेजी शासन के खिलाफ एक ही मंजिल पर पहुंचाते हैं यही अनेकान्तवाद है।

अनेकान्तवाद का आधार नयवाद है। यह भी कहा जा सकता है कि स्याद्वाद वस्तु का प्रतिपादन किसी अपेक्षा से पूर्णरूप में करता है और लय उस वस्तु को ज्ञाता के अभिप्राय विशेष के संदर्भ में अंश रूप में प्रकट करता है। ध्वनि, अर्थ, आदि के आधार पर नयों के अनेक उत्तर भेद हो सकते हैं। अनेकान्त दृष्टि में से ही नयवाद का भी उत्थान हुआ है नयों में सभी एकान्तवादी दर्शनों का अन्तर्भाव हो जाता है। इस दृष्टि से दार्शनिकों के बीच समन्वयवादिता स्थापित होने लगी। इसी प्रकार अनेक दार्शनिक नित्य-अनित्य, सान्त-अनन्त आदि विचार धाराओं से जुटते रहे। इस संघर्ष को दूर करने के लिए सप्तभंगीवाद का जन्म हुआ। जैन दार्शनिकों ने इस प्रकार अनेकान्तवाद नयवाद के माध्यम से अन्य दर्शनों को समीप लाने का अभूतपूर्व प्रयास किया है।

अनेकान्तवाद विचार करने की अनैकान्तिक प्रणाली है यही प्रणाली जब अभिव्यक्ति का रूप लेती है जो उसे हम 'स्याद्वाद' कहते हैं। पदार्थ की अनन्त अवस्थाओं

और उसके अनन्त गुणों का एक साथ स्पष्ट करना असंभव है । इसीलिए जैन दार्शनिकों ने अपने कथन के पूर्व में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग कर इस असंभवनीय स्थिति को दूर कर दिया । स्यात् का अर्थ है 'कथंचित्' । कथंचित् या विवक्षित प्रकार से अनेकान्त रूप से बोलना, कहना, या प्रतिपादन करना स्याद्वाद है । 'सत्' पद के माध्यम से 'एव' (ही) के स्थान पर 'अपि' (भी) का प्रयोग किया जाता है । इस प्रकार स्याद्वाद अनेकान्त वाद का ही एक रूप है ।

स्याद्वाद को सप्तभंगी न्याय भी कहते हैं । इसका अर्थ है वस्तु के अस्तित्व या सत्ता विधेय और निषेध परक कथन के प्रकार । वस्तु है भी नहीं भी है और है न ही दोनों है और दोनों रूप अनिर्वचनीय भी है । इस प्रकार सात ढंग से वस्तु का दर्शन किया जाता है । घड़ा घड़ा है घड़ा नहीं भी है, अन्य कुछ यानि मिट्टी या धातु भी है । कोई कैसे कह सकता है कि घड़ा घड़ा या मिट्टी ही है या नहीं है । क्योंकि उसके कण कण में न जाने कितने तत्व कितनी ऊर्जा कितनी संभावनाएं हैं । परमाणु शक्ति के चमत्कार हम देख ही रहे हैं इसलिए यह अनिर्वचनीय भी है । सत्य तक पहुँचने के लिए यह सप्तभंगी न्याय बहुत उपयोगी है ।

जैन दर्शन ने पदार्थ के अनन्त धर्मात्मक रूप पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया और अहिंसा की भूमिका में अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा की । आत्मा की विशुद्ध अवस्था जब तक प्रकट नहीं होती तब तक केवल ज्ञान नहीं होगा और व्यक्ति पदार्थ को पूर्ण रूप से नहीं देख सकेगा । इस दोष को दूर करने के लिए जैन दार्शनिकों ने अनेकान्तवाद, नयवाद और स्वाद्वाद नामक सिद्धान्तों की रचना की । नयवाद और स्याद्वाद पदार्थ के स्वरूप का दिग्दर्शन कराता है और नयवाद तथ स्याद्वाद उसके सम्यक् विवेचना में सहायता प्रदान करते हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक और अनेक, नित्य और अनित्य, सान्त और अनन्त आदि परस्पर विरोधी धर्मों का समन्वय अनेकान्तवाद के आधार पर आसानी से हो जाता है । यह समझना भूल है कि अनेकान्तवाद स्वतंत्र दृष्टि न होकर दो एकान्त वादों को मिलाने वाली एक मिश्रित दृष्टि मात्र है । यह एक विलक्षण और स्वतंत्र दृष्टि है, जिससे वस्तु का पूर्ण स्वरूप प्रतिभासित होता है । वस्तु का ङ्गीक-ङ्गाक स्वरूप समझने के लिए अनेकान्त दृष्टि ही उपयुक्त है ।

जैनाचार्यों ने जीवन सन्तुलन एवं समन्वय साधना की दृष्टि से एक सूत्र प्रदान किया है - 'आचार में अहिंसा और विचार में अनेकान्त' । जीवन में सामन्जस्य तभी आ सकता है जब हमारे विचारों में अनेकान्त वादिता हो । अनेकान्त की मनोभूमिका के बिना वाह्य आचरण में अहिंसा अभिव्यक्त नहीं हो सकती । अनेकान्त दृष्टि के अभाव में या उसके विकास के अभाव में हमारे वाह्य आचरण में जो अहिंसा दिख सकती है वह मात्र लोकसंस्कार या लोकरूढ़ि है । इसीलिए कहते हैं कि अनेकान्त नींव है और अहिंसा कलश है, अहिंसा आभूषण या शोभा है पर आधार तो अनेकान्त ही है ।

अनेकान्तवाद वस्तुतः सत्य और अहिंसा की भूमिका पर प्रतिष्ठित तीर्थंकर महावीर का एक सार्वभौमिक सिद्धान्त है जो 'सर्वधर्मसमभाव' के चिन्तन से अनुप्राणित है । उसमें लोकहित, लोक संग्रह और सर्वोदय की भावना निहित है । धार्मिक राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक विषमताओं को दूर करने का अमोघ-अस्त्र है । दूसरों के दृष्टिकोण का अनादर करना और उसके अस्तित्व को अस्वीकार करना ही संघर्ष का मूल कारण है ।

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद का सिद्धान्त वास्तव में वस्तु के सही स्वरूप को दर्शाता है और आत्म शान्ति के साथ-साथ विश्वशान्ति का भी प्रतिष्ठापक सिद्धान्त है । इस सम्बन्ध में राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने कहा है 'इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेकान्त का अनुसंधान भारत की अहिंसा साधना का चरम उत्कर्ष है और सारा संसार इसे जितना ही शीघ्र अपनायेगा विश्व में शान्ति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी ।'

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेकान्तवाद की झलक किसी न किसी रूप में समग्र दर्शनों में व्याप्त है । उन सभी दर्शनों के बीच सामंजस्य स्थापित करने वाले सिद्धान्त की नितान्त आवश्यकता थी जिसे जैन दर्शन ने अनेकान्तवाद या स्याद्वाद सिद्धान्त की स्थापना कर पूरा किया । आश्चर्य का विषय है कि उसे प्राचीन और आधुनिक जैनेतर दार्शनिकों ने सम्यक् रूप से समझने का प्रयत्न नहीं किया । यदि उसे उसी प्रकार समझा जाता तो उसके माध्यम से अनेक समस्यायें सहज ही सुलझ सकती थी । परस्पर संघर्ष, टकराव और कटुता का दूर करने का उपाय स्याद्वाद सिद्धान्त में निहित है । पारस्परिक दृष्टिकोण को समझ कर उनके बीच सामंजस्य स्थापित कर देना

{ 22 }

वर्ष 52-दार्शनिक त्रैमासिक - अंक - 3

हर व्यक्ति और समुदाय की शान्ति के लिए अपेक्षित है। अतः स्याद्वाद विश्वशान्ति प्रस्थापित करने में अपनी महनीय योगदान दे सकता है। सत्य की खोज का यही परम साधन है। आध्यात्मिक, दार्शनिक, सामाजिक, और व्यावहारिक क्षेत्र के विकास के लिए यह सिद्धान्त निश्चित ही अप्रतिम है।

शोध छात्र,  
दर्शन एवं धर्म विभाग,  
का०हि०वि०वि०, वाराणसी



## अभिहितान्वयवाद व अन्विताभिधानवाद : एक दार्शनिक विमर्श

डॉ० शिवभानु सिंह

मीमांसा दर्शन वैदिक शब्द प्रमाण को स्वतः प्रमाण मानता है तथा वेदवाक्य को नित्य एवं अपौरुषेय मानता है। वैदिक स्वभाव से ही प्रामाणिक एवं निर्दोष है, क्योंकि इनकी उत्पत्ति तथा इनके परस्पर सम्बन्ध में किसी भी लौकिक अथवा पार-लौकिक पुरुष की अपेक्षा नहीं है। वेद के नित्यत्व तथा अदुष्टत्व को सिद्ध करने के लिए शब्द को नित्य मानना आवश्यक है। शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। मीमांसा दर्शन ने इस प्रकार शब्द, अर्थ और शब्दार्थ सम्बन्ध इन तीनों को ही नित्य मानना आवश्यक है। शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। मीमांसा दर्शन ने इस प्रकार शब्द, अर्थ और शब्दार्थ सम्बन्ध इन तीनों को ही नित्य माना है। शब्द वस्तुतः दो या अधिक वर्णों का समूह होता है। वर्ण को नित्य, सर्वगत और निरवयव स्वीकार किया गया है। उच्चरित वर्ण उसकी ध्वनि से भिन्न है और लिखित वर्ण उसके रूप से भिन्न है। वर्ण नित्य एवं अपरिणामी हैं, किन्तु उसकी उच्चरित ध्वनि या लिखित रूप अनित्य तथा परिवर्तनशील होते हैं। एक ही ध्वनि का भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा उच्चारण करने या लिखने पर प्रत्येक ध्वनि और लेख में भिन्नता होगी किन्तु इस भिन्नता के कारण वर्ण में भिन्नता नहीं हो जाती। किसी वर्ण की अनित्य एवं विभिन्न ध्वनियां या लेखन रूप उस नित्य तथा अपरिणामी वर्ण की अभिव्यक्ति के साधन हैं। नित्य वर्णों का समूह होने के कारण शब्द भी नित्य है। शब्द का अर्थ भी नित्य होता है क्योंकि शब्द का वाच्य अनित्य तथा परिणामी व्यक्ति पदार्थ नहीं होता, अपितु नित्य सामान्य होता है जो व्यक्तियों में अनुगत रहता है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी नित्य होता है, यह न ईश्वर संकेत से आता है और न रूढ़िगत परम्परागत व्यवहार से। वेदों की नित्यता को मानने का औचित्य प्रदर्शित करते हुए मीमांसकों ने कहा है कि वेद अपौरुषेय है क्योंकि उनमें शब्दों का क्रम या आनुपूर्वी भी नित्य तथा स्वतः निर्धारित है। अतः वेद की नित्यता, अपौरुषेयता और स्वतः प्रामाण्य सिद्ध है।

प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट शब्द को गुण न मानकर द्रव्य मानते हैं। कर्णेन्द्रिय साक्षात्सम्बन्ध के द्वारा शब्दों को ग्रहण कर सकता है। शब्द द्रव्य है, इसका यह भी प्रमाण है कि यह कतिपय गुणों का उदाहरणार्थ-संख्या, आदि का आश्रय है। शब्द विभु है, जो शब्द वर्तमान काल में उच्चरित होता है, वह पहले भी उच्चरित हुआ होगा और भविष्य में भी होगा और वह वही शब्द है ऐसी प्रतीति होती है। अतः हम

कह सकते हैं कि शब्द सर्वव्यापक है। शब्दों के तात्पर्य का ज्वीक से बोध हो सके इसके लिए मीमांसाकारों ने छः सिद्धान्त प्रतिपादित किया है:— (१) **उपक्रम (प्रारंभ)** तथा उपसंहार-इनके द्वारा प्रारम्भिक और अन्तिम प्रकरणों की एकवाक्यता पर विचार होता है। दोनों के एक रहने पर वही अर्थ माना जाता है। (२) **अभ्यास** अर्थात् बार-बार क्या बात कही गई है, इससे भी अर्थबोध होता है (३) **अपूर्व** क्या नया सिद्धान्त बताया गया है ? (४) **फल** इस नये सिद्धान्त के प्रतिपादन का क्या फल होगा ? (५) **अर्थवाद** — सिद्धान्त की प्रशंसा या आलोचना। (६) **उत्पत्ति** अर्थात् युक्तियों का प्रयोग। मीमांसा दर्शन में वेद के पांच प्रकारों का उल्लेख किया गया है- विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध तथा अर्थवाद। वेद के जिस भाग से अज्ञात अर्थ का ज्ञापन होता है उसे विधि कहते हैं। उत्पत्ति-विधि, विनियोग-विधि, अधिकार-विधि तथा प्रयोग-विधि। ये चार विधि के प्रभेद हैं। उत्पत्ति-विधि का तात्पर्य मौलिक या सामान्य आदेशों से है, जैसे वह अग्निहोत्र करता है। विनियोग विधि का तात्पर्य उस प्रकार से है जिससे यज्ञ किया जाय—जैसे दही से हवन करता है। प्रयोग विधि से याज्ञिक कर्मों का तारतम्य निश्चित होता है। अधिकार विधि यह निर्णीत करती है कि यज्ञीय कर्ममांडों में किन लोगों का अधिकार है अर्थात् कौन यज्ञ कर सकता है और कौन नहीं। मन्त्रों से जिन देवताओं को हविष्य प्रदान किया जाता है उनका स्मरण होता है। नामधेय से विशिष्ट यज्ञों का उदाहरणार्थ—अग्नि होम, दर्श पौर्ण मास आदि का स्मरण होता है। निषेध से जो अकर्तव्य कर्म है उनका बोध होता है। अर्थवाद का तात्पर्य ब्राह्मण ग्रन्थों के उन अंशों से है जो किसी विषय की व्याख्या करते हैं। अर्थवाद के तीन भेद हैं—गुणवाद, अनुवाद, भूतार्थवाद।

पदों के सार्थक समूह को वाक्य कहते हैं। (वाक्य पदानां समूहः—तर्क भाषा) यह प्रश्न यह उद्भूत है कि पदों के अर्थ (पदार्थ) वाक्य को अर्थ प्रदान करते हैं या वाक्यार्थ पदों को अर्थ प्रदान करते हैं। शब्द और उसके अर्थ को लेकर कुमारिल और प्रभाकर के मत भिन्न-भिन्न हैं। कुमारिल के मत को अभिहितान्वयवाद और प्रभाकर के मत को अन्विताभिधानवाद कहा जाता है। इनमें से पहले प्रभाकर के अन्विताभिधानवाद का विश्लेषण अपेक्षित है। प्रभाकर का मत है कि आदेशात्मक वाक्यों द्वारा ही अर्थों का उचित बोध होता है। उनके अनुसार सर्वप्रथम पृथक् अन्विताओं की स्मृति होती है और तदनन्तर आकांक्षा, योग्यता तथा स्मृति के आधार पर अन्वित पदार्थों का बोध होता है। इस वाद के अनुसार सम्बन्धों की विविक्षा करके ही अथवा विधि वाक्यों के अन्तर्गत ही शब्दों का अर्थ विदित होता है। 'पुस्तकम् आनय' इस वाक्य में 'पुस्तकम्' शब्द में सम्बन्ध अन्तर्भूत है अर्थात् कोई पुरुष पुस्तक के विषय में कुछ क्रिया करे। प्रभाकर अभिधा के अतिरिक्त लक्षणा भी मानते हैं। प्रभाकर के अनुसार पद की शक्ति शुद्ध अर्थ में नहीं अपितु अन्वित—सम्बन्धयुक्त अर्थ में होती है। अतः पद से शुद्ध अर्थ का

अभिधान नहीं वरन् अन्वित अर्थ का अभिधान होता है। ज्ञातव्य है कि शबर-स्वामी ने अपने भाष्य (शाबर भाष्य) में कहा है—‘पदानि हि एवं पदार्थमभिदाय निवृत्त व्यापाराणि अभेदानीं पदार्थो अवगत सन्तो वाक्यार्थं गमयन्ति—यही वाक्यार्थ के सम्बन्ध में शबर स्वामी का मत है। प्रभाकर के अनुसार शाबर भाष्य में पदार्थ शब्द का अभिप्राय अन्वित तथा वाक्यार्थ शब्द का अभिप्राय अन्वय से है। आचार्य प्रभाकर का मत है कि वाक्य में प्रयुक्त पदों के दो कार्य हैं—अपने अर्थ को प्रकट करना और सामूहिक अर्थ को प्रकट करना। अतः प्रत्येक पद अपने सामान्य अर्थ को अभिव्यक्त करता है और अन्य पदों के अन्वित अर्थ को भी अभिव्यक्त करता है।

आचार्य प्रभाकर वाक्य को ही भाषा की इकाई मानते हैं। वाक्य में पद अवश्य रहते हैं परन्तु पदों का अर्थ भी वाक्यार्थ पर ही निर्भर है अर्थात् वाक्य में प्रयुक्त पद ही सार्थक होते हैं। वाक्य में एक उद्देश्य निहित रहता है। पदों का प्रयोग इसी निहित अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए है। इसीलिए प्रभाकर स्वीकार करते हैं कि पद की शक्ति शुद्ध अर्थ में नहीं अपितु अन्वित-सम्बन्ध युक्त अर्थ में है। अन्विताभिधानवाद भी कई प्रकार का माना गया है:—

#### कार्यान्विताभिधान

शब्दबोध कार्यत्व विषयक होता है। अतः कार्यत्व बोधक लिंग आदि का प्रयोग जिस वाक्य में नहीं होता, उससे शब्दबोध नहीं होता। इसी मत का प्रतिपादन प्रभाकर ने किया है।

#### इतरान्विताभिधान

इसके अनुसार इतर अर्थ का लाभ पदान्तर से होता है।

नैयायिक अन्विताभिधानवाद को नहीं स्वीकार करते। उनका कहना है कि यदि वाक्य बोध को शब्दबोध मान लिया जाय तो बोध होना ही असंभव हो जाएगा क्योंकि वाक्य अनन्त है। दूसरी बात यह कि ज्ञान यदि वाक्यार्थ पर ही निर्भर है तो शब्दों का प्रयोग निरर्थक है। तीसरी बात यह है कि अन्विताभिधान में गौरव है क्योंकि इसमें पहले प्रकृति-प्रत्यय का अन्वय और पुनः पदार्थों का अन्वय होता है। आचार्य प्रभाकर अर्थ को पहले से ही समन्वित मानते हैं, परन्तु आचार्य कुमारिल के अनुसार पद पहले अपने अर्थ को अभिव्यक्त करता है तथा पुनः अर्थों से सम्बद्ध होता है।

आचार्य कुमारिल शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के बारे में अभिहितान्वयवाद का प्रतिपादन करते हैं। आचार्य कुमारिल शबर स्वामी के उपरोक्त मत का तात्पर्य बतलाते हुए कहते हैं कि पद अपने अर्थ को बोध कराकर उपरत हो जाते हैं। पदार्थ बोध हो जाने पर वे वाक्यार्थ बोध कराते हैं। कुमारिल के अनुसार वाक्यार्थबोध शब्दबोध पर निर्भर है। शब्द या पद की शक्ति से अर्थ पहले सामान्य रूप से अवगत होता है अर्थात् पहले अर्थ

का सामान्य बोध कराता है। इसके पश्चात् अभिहित अर्थों का सम्बन्ध बोध पदों की योग्यता आदि के आधार पर होता है। दूसरे शब्दों में, पद से अर्थ का ज्ञान हमें पृथक रूप से होता है परन्तु वाक्य के अर्थ का ज्ञान हमें उन अर्थों के पारस्परिक संयोग से होता है। पद समूह, आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि के आधार पर समन्वित होकर वाक्य बन जाते हैं। अतः आचार्य कुमारिल 'संसर्ग' को ही वाक्यार्थ स्वीकार करते हैं। वाक्यार्थ का ज्ञान हमें पद-ज्ञान के पश्चात् होता है। इससे साफ है कि पद की शक्ति स्वतन्त्र है। पद स्वतन्त्र रूप से अर्थ का ज्ञान कराता है। परन्तु विभिन्न पदों के अर्थों का समन्वय होकर वाक्यार्थ बोध होता है। इस प्रकार वाक्यार्थ का ज्ञान पदार्थ से स्वतन्त्र है। वाक्य अपने प्रसंगानुसार अर्थवान होते हैं। शब्दों की स्वतन्त्र अर्थसत्ता और उनके मेल से विरोध विचार कल्पना की उत्पत्ति ही अभिहितान्वयवाद कहलाता है। कुमारिल के अनुसार 'गो आनय' में गाय शब्द का अर्थ स्पष्ट है वह गो का कर्मकारक है और 'आनय' का अर्थ 'लाओ' है। दोनों के मिलने से 'गाय लाओ' अर्थ स्पष्ट होता है।

अभिहितान्वयवाद के अनुसार पहले शब्द का प्रकथन किया जाता है और जब वाक्य के सभी शब्दों का प्रकथन या अभिधान हो जाता है तो उसके पश्चात् उनका अन्वय किया जाता है और उनके अन्वय से वाक्य का अर्थ सिद्ध होता है। अन्विताभिधान वाद में प्रकथन अभिधान या उच्चारण से समय ही अर्थ के प्राकट्य को बतलाया गया है, किन्तु कुमारिल के अनुसार यह ठीक नहीं है क्योंकि शब्द अनेकार्थक होते हैं और जब तक वाक्य के सभी शब्दों के साथ किसी एक शब्द का अन्वय नहीं होता तब तक उस शब्द का अर्थ नहीं लग सकता। परन्तु बिना समस्त वाक्य का विचार किए हुए अर्थात् बिना अन्वय किए हुए अन्विताभिधानवादी कहता है कि शब्द अपना अर्थ अपने परवर्ती शब्द को समर्पित कर देता है। उदाहरण के लिए 'हरि का स्मरण करना भक्ति है, इस वाक्य में 'हरि' शब्द के दो अर्थ हैं—(१) बंदर, (२) कृष्ण भगवान। अन्विताभिधानवाद यह बताने में असमर्थ है कि यहाँ 'हरि' शब्द का अर्थ कृष्ण भगवान क्यों किया जाता है क्योंकि यही अर्थ भक्ति के साथ सुसंगत है और 'बन्दर' भक्ति शब्द के साथ सुसंगत नहीं है फिर यदि शब्द नित्य है तो अपने उच्चारण के बाद भी वे सुलभ है। इसलिए उच्चारण काल में ही अर्थ हो यह कोई आवश्यक नियम नहीं है। अपने पक्ष में अन्विताभिधानवादी कहते हैं कि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य मानने से उनका ही मत पुष्ट होता है कि उच्चरित होते ही शब्द अपना अर्थ दे रहा है। अगर अर्थ शब्द के उच्चारण के बाद अन्वय के साथ अर्थ देता है तो इससे सिद्ध होता है कि शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध नहीं है। जहाँ तक अनेकार्थक शब्दों की कठिनाई है वहाँ प्रभाकर का कहना है कि परवर्ती शब्द को जब अपने पूर्ववर्ती शब्द के अर्थ मिल जाते हैं तो वह स्वयं जो प्रसंगानुसार अर्थ

देता है उससे जुड़ जाता है और अन्य अर्थ को छोड़ देता है । इस प्रकार प्रभाकर और कुमारिल दोनों ही अपने-अपने मतों के पक्ष में तर्क देते हैं और एक दूसरे के मत का खण्डन करते हैं ।

प्रभाकर और कुमारिल के मतों के बीच तुलना करते हुए हम कह सकते हैं कि प्रभाकर यह मानते हैं कि शब्दों के अर्थ केवल उसी अवस्था में जाने जा सकते हैं जबकि वे ऐसे वाक्य में आते हैं जो किसी कर्तव्य का आदेश करता हो । इस प्रकार शब्द पदार्थों को केवल इस प्रकार के वाक्य के अन्य अवयवों से सम्बद्ध रूप में ही द्योतित करते हैं यदि वे एक आदेश से सम्बद्ध नहीं हैं, बल्कि केवल अर्थों का ही स्मरण कराते हैं तो यह स्मृति का विषय है, जो प्रामाणिक बोध नहीं है । कुमारिल का इस सम्बन्ध में मत है कि अर्थ का ज्ञान शब्दों होता है । किन्तु यह ज्ञान स्मरण अथवा बोधग्रहण के कारण नहीं है, बल्कि द्योतन के कारण है । शब्द अर्थ का प्रकट करते हैं जो संयुक्त होने पर एक वाक्य का ज्ञान देते हैं ।

वस्तुतः प्रभाकर का मत है कि अक्षर शाब्दिक बोध के साधन है । शब्दों में नैसर्गिक रूप से द्योतन की शक्ति रहती है, जिसके द्वारा वे पदार्थों को प्रकट करते हैं, भले ही हम उनके अर्थों को समझ सकें या न समझ सकें । प्रभाकर की ही भांति कुमारिल भी तर्क करते हैं कि सार्थकता स्वयं अक्षरों के अपने अन्दर रहती है न किसी विशेष स्फोट में । इसलिए वे उस प्रकल्पना का प्रत्याख्यान करते हैं जिसके अनुसार शब्द का निर्माण करने वाले अक्षरों की क्षणिक ध्वनियों के अतिरिक्त, एक परिपूर्ण शब्दाकृति क्षणिक ध्वनियों से अभिव्यक्त होती है, किन्तु उत्पन्न नहीं होती ।

आधुनिक तर्कशास्त्र ने उपरोक्त दोनों मतों को गलत सिद्ध कर दिया है और कहा है कि शब्द का अर्थ ही नहीं होता है । अर्थ पूरे वाक्य का होता है । मनुष्य वाक्य बोलता है और वाक्य का अर्थ करता है । भाषा की इकाई वाक्य है न कि शब्द । जब भाषा की इकाई के रूप में शब्द को माना जाता था तो अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद होने की उपयोगिता थी, किन्तु जब भाषा की इकाई ही वाक्य हो गयी तो दोनों मत अनावश्यक हो गये । स्फोटवादी प्राचीन काल से ही मीमांसा के इन दोनों मतों का खण्डन करते हैं । उनका मत आधुनिक तर्कशास्त्र के अनुसार यह मानता है कि वाक्य एक पूर्ण इकाई है उसकी पूर्णता ही उसके पूर्ण अर्थ को प्रस्फुट करती है । खास अर्थ स्फोट होता है । स्फोट एक शक्ति है जिसे वाक्य शक्ति कहा जा सकता है । वही वाक्य के अर्थ को प्रकट करती है ।

मीमांसा दर्शन वस्तुतः पद को भाषा की इकाई न मानकर वाक्य को ही भाषा की इकाई मानता है । अन्विताभिधानवाद यह मानता है कि वाक्यार्थ ही पदों को अर्थ प्रदान करते हैं । प्रभाकर एक प्रश्नोत्तर के माध्यम से अन्विताभिधानवाद को और अधिक

स्पष्ट करते हैं। प्रश्न है कि भाषा का ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाता है ? इसके उत्तर में प्रभाकर कहते हैं कि भाषा का ज्ञान वाणी और क्रिया के संयोग से प्राप्त होता है। जब कोई बालक किसी वयस्क व्यक्ति के द्वारा उच्चरित कोई वाक्य सुनता है तब वह देखता है कि इस वाक्य को सुनकर श्रोता किस प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। बालक इसी प्रतिक्रिया के आधार पर वाक्यार्थ ग्रहण करता है और वाक्यार्थ के द्वारा पदार्थ को भी ग्रहण करता है। 'भूसांसो यद्यपि स्वार्थाः पदानां ते पृथक-पृथक प्रयोजन तयात्वेक वाक्यार्थ संप्रच्छते, वाक्यार्थ मातृकावृत्तिः'-प्रकरण पंचिका।

अन्विताभिधानवाद के विरुद्ध मुख्यतः निम्नलिखित आपत्तियां दी गई हैं:—

- (१) यद्यपि कोई बालक भाषा का ज्ञान भाषा के वाक्यों के प्रयोग के आधार पर प्राप्त करता है किन्तु जब एक भाषा का वाक्य दूसरी भाषा में अनूदित किया जाता है तो यह अनुवाद वाक्यों की अपेक्षा पदों के अनुवाद पर भी आधारित होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भाषा का ज्ञान सदैव वाक्यार्थ मूलक न होकर पदार्थमूलक भी होता है।
- (२) यदि यह कहा जाय कि भाषा का ज्ञान वाक्यों के माध्यम से होता है तो भाषा का सीखा जाना असंभव होगा क्योंकि किसी भाषा के वाक्यों की संख्या अनन्त होती है। वस्तुतः पद के ज्ञान के आधार पर ही वाक्य का ज्ञान प्राप्त होता है।
- (३) यदि वाक्यार्थ को पदार्थ पर आधारित नहीं माना जाय तो भाषा विश्लेषण असम्बद्ध होगा क्योंकि विश्लेषण पदों के अर्थ और भाषा में पदों के व्याकरण पर ही आधारित होता है।
- (४) यदि पदों के अर्थ नहीं होते तो 'घट लाओ' और 'पट लाओ' वाक्यों का अर्थ एक ही होता। किन्तु इन वाक्यों के अर्थ अलग-अलग हैं। इन वाक्यार्थों की भिन्नता 'घट' और 'पट' के अर्थ की भिन्नता के कारण ही है।
- (५) हम पदों के अर्थ और प्रयोग वाक्यों से पृथक ही सीखते हैं। यही कारण है कि एक ही पद अलग-अलग वाक्यों और अलग-अलग संदर्भों में अलग-अलग स्थानों पर व्यवहृत हो जाता है।

उपरोक्त मत से अलग अभिहितान्वयवाद के अनुसार पदार्थ वाक्यार्थ पर निर्भर नहीं करते वरन् पदों के अर्थ और पदों की परस्पर अन्विति ही वाक्यार्थ की रचना करते हैं। कुमारिल भट्ट के अनुसार पदों से अभिहित हुए अर्थ का परस्पर अन्वय ही (अभिहितान्वय = अभिहित + अन्वय) वाक्यार्थ की रचना करता है। स्पष्टतः इस मत के अनुसार भाषा की इकाई पद है जो न सिर्फ वाक्यों से स्वतन्त्र रूप से अर्थवान है, वरन् अपने स्वतन्त्र अर्थों के आधार पर ही वाक्यार्थ की रचना में समर्थ भी है। अन्विताभिधानवाद

की ही तरह अभिहितान्वयवाद के विरुद्ध भी निम्नलिखित आपत्तियां की गई हैं:—

- (१) अन्विताभिधानवाद की तरह यह मत भी एकांगी है। यह झुकी है कि पदों के अपने अर्थ होते हैं जो वाक्यार्थ के निर्माण में सहायक होते हैं किन्तु कोई भी पद दूसरे पदों के सहयोग-सान्निध्य के अभाव में किसी अर्थ को पूर्णतः प्रकट नहीं कर पाता।
- (२) प्रबुद्ध व्यक्ति भाषा का प्रयोग विचारों के प्रकटीकरण के लिए करते हैं। विचारों का प्रकटीकरण वाक्यों के माध्यम से होता है, न कि पदों के माध्यम से। स्पष्टतः यहाँ अर्थ की इकाई वाक्य सिद्ध होते हैं, न कि पद।
- (३) यदि पद वाक्यों से स्वतन्त्र अपना अर्थ स्वयं ग्रहण करते और किसी सम्पूर्ण अर्थ को प्रकट कर सकने में सक्षम होते तो वाक्यों की कोई आवश्यकता नहीं होती।
- (४) पद अपने अर्थ दूसरे पदों से जुड़कर ही ग्रहण करते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो एक वाक्य में मात्र एक पद ही सार्थक होता शेष पद निरर्थक होते।

उपरोक्त दोनों मतों को एकांगी मानते हुए मुकुल भट्ट ने पदार्थ और वाक्यार्थ के बीच सम्बन्ध निर्धारित करने के लिए समुच्चयवाद का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार वाक्यों के अपने अर्थ हैं और पदों के अपने। कदाचित् पद वाक्यों से स्वतन्त्र अर्थ ही रखते हैं और कदाचित् वाक्यों में प्रयुक्त होकर संदर्भ के अनुसार नवीन अर्थ भी ग्रहण कर लेते हैं। इस मत के अनुसार वाक्यार्थ और पदार्थ में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। समुच्चयवाद की ही तरह नैयायिकों और वेदान्तियों ने तात्पर्यवाद का प्रतिपादन किया है। इस मत के अनुसार यद्यपि वाक्यार्थ और पदार्थ परस्पर आश्रित हैं तथापि वाक्य की शक्ति (अर्थ) वक्ता के तात्पर्य में निहित होती है। न्याय मतानुसार 'तात्पर्य' वाक्य का मूलार्थ है जिसके कारण प्रत्येक वाक्य वक्ता का तात्पर्य निवेदित करता है। जयन्त ने वाक्यार्थ और पदार्थ के सम्बन्ध को एक उपमा के द्वारा प्रकट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार लकड़ी के जलने से जो ताप उत्पन्न होता है, उस ताप से भोजन पकता है, उसी प्रकार का सम्बन्ध पद, वाक्य और अर्थ के बीच है। पद के स्वतन्त्र अर्थ अवश्य है किन्तु वक्ता का तात्पर्य तो वाक्य ही निवेदित करते हैं जो वाक्य, आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के आधार पर परस्पर संयुक्त होते हैं। न्याय मत तें तात्पर्य शक्ति को 'संसर्ग मर्यादा' का नाम दिया गया है। अभिनवगुप्त ने तात्पर्यवाद की व्याख्या करते हुए कहा कि तात्पर्यवाद यह मानता है कि पदों की अभिधाशक्ति परस्पर संयुक्त एक नई शक्ति 'तात्पर्य' को जन्म देती है, जो तात्पर्य ही वाक्य की 'शक्ति' अथवा मूलार्थ है।

वेदान्त दर्शन तात्पर्य के दो अर्थों का उल्लेख करता है। प्रथम मत 'लोक

प्रसिद्ध मत' है जिसके अनुसार वक्ता की इच्छा ही वाक्य का तात्पर्य है । (तत्प्रतीतिच्छयो-च्चरित्व न तात्पर्य-वेदान्त परिभाषा, आगम परिच्छेद) । वेदान्त दर्शन तात्पर्य के इस अर्थ का खण्डन करता है । उसके अनुसार कई बार ऐसा होता है कि वक्ता स्वयं वाक्य का अर्थ नहीं जानता किन्तु वह वाक्य का उच्चारण कर देता है, जिस वाक्य का अर्थ ग्रहण भाषाविज्ञ के द्वारा होता है । अतः वाक्यार्थ की व्याख्या न तो 'वक्ता के अभिप्राय' के संदर्भ में करना उचित है और न ही 'तात्पर्य' को 'वक्ता की इच्छा' के रूप में ग्रहण किया जा सकता है । तात्पर्य की एक अन्य परिभाषा देते हुए वेदान्त मत में कहा गया है कि 'पदार्थों से संसर्ग का अनुभव उत्पन्न कराने की योग्यता का वाक्य में होना ही वाक्य का तात्पर्य है' (तात्पर्य प्रीति जनन योग्यत्वं तात्पर्य-वेदान्त परिभाषा, आगम परिच्छेद) । वेदान्त दर्शन आगे चलकर 'तात्पर्य' के दो लक्षणों का उल्लेख करता है- (१) वाक्य में वक्ता के विविक्षित अर्थ की प्रतीति कराने की योग्यता होनी चाहिए तथा (२) वाक्य विविक्षित अर्थ से भिन्न अर्थ को बताने की इच्छा से उच्चरित न किया गया हो । (यद्वाक्यं यत्प्रतीति जनन स्वरूप योग्यत्वे सति यदन्य प्रतीति जनन स्वरूप योग्यत्वे सतियदन्य-प्रतीतिच्छया मोच्चरितं तद्वाकरं तत्संसर्ग परमित्युच्यते-वेदान्त परिभाषा, आगम परिच्छेद) । वेदान्त मत वाक्य के दो प्रकार मानता है-वैदिक और लौकिक । वैदिक वाक्यों का तात्पर्य निरूपण न्याय के द्वारा होता है । (तच्च तात्पर्य वेदे परिशोधित न्याय देवात् धार्यते-वेदान्त परिभाषा) लौकिक वाक्यों का तात्पर्य निरूपण अर्थ, प्रकरण लिंग, औचित्य, देश और काल के आधार पर होता है । (प्रकरण लिंगादौचित्याद्देश कालतः । शब्दार्थस्तु विभिद्यन्ते न रूपादेव केवलात् ।

शब्दार्थ सम्बन्ध के बारे में उल्लिखित उपरोक्त विभिन्न मतों के सम्यक् विवेचन के आधार पर मेरे विचार से न्याय और वेदान्त द्वारा पोषित तात्पर्यवाद तुलनात्मक दृष्टि से अधिक सुसंगत और समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि नैयायिकों ने आकांक्षा, योग्यता, सान्निध्य और तात्पर्य, इन चार शर्तों का उल्लेख करके उन सभी संभावनाओं को निर्मूल कर दिया है जिनसे शब्दों के निहितार्थ और भावार्थ को ग्रहण करने में कठिनाई हो सकती है ।

रीडर एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग

यूइंग क्रिश्चियन कालेज

इलाहाबाद ।



## देवात्मा दर्शन की मानववादी दृष्टि

डॉ विजय कान्त दुबे

भारतवर्ष के दार्शनिक इतिहास में कुछ परम्परागत मान्यतायें वैदिक काल से जुड़ी हैं, जिसका महत्व शाश्वत रूप से आज भी विद्यमान है। परन्तु स्वतंत्र चिन्तन के वैशिष्ट्य के कारण प्राचीन भारत से लेकर अर्वाचीन तक भारतीय दर्शन विविध रूपों में प्रस्तुत हो सका, जिसमें दो मुख्य धाराएं स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती हैं। प्रथम, भारतीय धर्म और संस्कृति की शाश्वत परम्परागत मौलिक धारा एवं द्वितीय, भारतीय समाज की नवोत्थान, सुधार एवं प्रगतिशील चिन्तनधारा, जो परम्परागत चिन्तन से पृथक एक नवीन दृष्टि लिये हुये है, जिसमें कहीं न कहीं पाश्चात्य विचारों का प्रभाव भी है और सामाजिक पुनरुद्धार की एक चुनौती भी।

भारतीय चिन्तन के आधुनिक काल में देवात्मा का वैज्ञानिक दर्शन इसी दूसरे प्रकार के चिन्तन की एक कड़ी है, तो परम्परागत चिन्तन से हटकर जीवन के यथार्थ धरातल पर दर्शन को वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित करके समयानुकूल बनाने का प्रयत्न किया। श्री शिवनारायण अग्निहोत्री, जो देवात्मा दर्शन के प्रवर्तक हैं, बल्कि यह कहा जाय कि जो स्वयं देवात्मा हैं, को अनुभव हुआ कि अलौकिक जगत की सत्ता, जिसका प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता, का इस संसार के संचालन में कोई हाथ नहीं हो सकता, क्योंकि उस सत्ता का अस्तित्व स्वयं संदेहजनक है। ऐसे परमसत्ता या ईश्वर पर आधारित अन्यान्य कुरीतियों, जातीय प्रतिबन्धों, हिंसक एवं असात्विक परम्पराओं के विरुद्ध आवाज उठाई गई। परन्तु एक बार पुनः यथार्थ जगत की मौलिकता की स्वीकृति देने वाले इस विचारधारा को पनपने नहीं दिया गया। तथापि देवात्मा दर्शन के वैज्ञानिक ज्ञान, वैज्ञानिक पद्धति की प्रमुखता है। हम न जो उसके अस्तित्व से ही इंकार कर सकते हैं, और न ही उसकी महत्ता से। प्रो० कनल कहते हैं, 'देवात्मा विगत दिनों के प्रथम ऐसे दार्शनिक हैं, जिन्होंने वैज्ञानिक विधि को सत्य की प्रामाणिकता की जाँच हेतु पूर्णरूपेण स्वीकृति दी और विश्व के भूगोल से अदेशीय एवं अकालिक आत्मा और ईश्वर के जगत को हटा दिया।'<sup>१</sup>

मानववाद आधुनिक काल की प्रमुख विचारधारा है। जैसे तो सामान्य रूप से मानववादी विचारधारा किसी न किसी रूप में प्राचीन काल से ही विद्यमान पायी जाती है। जहाँ एक ओर भारत के वैदिक दर्शनमें मानववाद की झलक देखने को मिलती है, वहीं दूसरी ओर यूनान की विचार धारा में ई०पू० में पाँचवी शताब्दी में प्रोटागोरस ने मनुष्य को सभी वस्तुओं का मापदण्ड मानकर मानववाद की नींव रख दी थी। परन्तु जिस मानववाद का जन्म विज्ञान और धर्म के बीच हुआ अथवा धर्म की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ, वह तो नवीन ही है। विशेषकर आधुनिक युग के पुनर्जागरण काल के पश्चात् मानववाद एक विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित हुआ, जिसमें किसी पारलौकिक सत्ता से परे मनुष्य की स्वतंत्रता, गरिमा, महत्ता और उत्तरदायित्व को महत्व देते हुए उसका स्थान सर्वोपरि माना गया। Encyclopaedia of Social Sciences में कहा गया, 'सोलहवीं सदी के बाद से मानववाद से अभिप्राय उस दर्शन से है, जिसका केन्द्र एवं प्रमाण दोनों मनुष्य है।'<sup>२</sup> पाश्चात्य चिन्तन में अमरीकी दार्शनिक कार्लिस लैमान्ट ने इस पर Humanism is a Philosophy नामक स्वतंत्र ग्रंथ लिखकर इसके महत्व को बढ़ाया तो बर्ट्रेण्ड रसेल, जॉन डिवी, शिलर के साथ-साथ विभिन्न फलवादी एवं अस्तित्ववादी चिन्तकों ने किसी अलौकिक सत्ता के स्थान पर मानव को जीवन और जगत का केन्द्र-बिन्दु माना। प्रकृतिवाद तथा भौतिकवाद भी मानव को ही सर्वोपरि स्थान प्रदान करते हैं।

जहाँ तक समकालीन भारतीय चिन्तकों द्वारा प्रस्तुत मानववाद का प्रश्न है, इसके दो वर्ग हैं, जिसमें एक वर्ग तो पाश्चात्य चिन्तन से प्रभाव कर ऐसे मानववाद की स्थापना करता है, जो परासत्ता से पर हटकर इहलौकिक जगत की ही एक मात्र स्वीकृति के साथ मानव को ही अपने चिन्तनकर केन्द्र-बिन्दु मानता है, जिसमें देवात्मा जवाहर लाल नेहरू, नरसिंह नारायण, नन्दकिशोर देवराज का नवमानववाद, वैज्ञानिक मानववाद, प्राकृतिक मानववाद, सर्जनात्मक मानववाद आदि प्रमुख मत हैं, जो दूसरा वर्ग ऐसे चिन्तकों का है, जो इस प्रकार के विचारों तथा पाश्चात्य प्रभावों से उद्वेलित होकर परमसत् की स्वीकृति के साथ मानव को उसका अंश मानते हुए मानव कल्याण, महत्व व उसके लक्ष्य को सर्वोपरि स्वीकार करता है। इन चिन्तकों में स्वामी विवेकानंद, श्री अरविन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर, महात्मा गाँधी, राधाकृष्णन् प्रभृत चिन्तकों का आध्यात्मिक मानववाद प्रमुख है।

भारत के सभी मानववादी चिन्तकों का प्रकृतिवादी मानववाद अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। इनके मानववाद का वैशिष्ट्य यह है कि इन्होंने स्वयं मानव के श्रेष्ठतम् स्वरूप में पहुँचकर, जैसा कि वे स्वयं मानते हैं, लगभग १२५ वर्ष पूर्व इस मत को स्थापित किया, जो विज्ञान से प्रभावित होने के कारण पारम्परिक वेदान्त से पृथक प्रकृति या **नेचर** को मूल तत्त्व मानते हुए **प्राकृतिक मानववाद** कहलाता है।

मानववाद वह विचारधारा है, जो सृष्टि के श्रेष्ठतम् प्राणी 'मनुष्य' एवं मनुष्य की महत्ता, अस्मिता, साध्यता एवं महत्ता को जीवन के सभी क्षेत्रों में स्थापित करना चाहता है। यह मत मानव के अस्तित्व, उसकी स्वतंत्रता एवं उसके कल्याण का पक्षधर है, जिसे धर्म का विकल्प के रूप में भी देखा गया। देवात्मा द्वारा स्थापित देव समाज का भी उद्देश्य मानवीय विकास के साथ-साथ उसके अन्य मानवों के साथ सम्बन्ध, व सामाजिक सम्बन्ध को विकसित करना था।<sup>३</sup> देवात्मा ने अपने चिन्तन में मानव की महत्ता को स्वीकारते हुए अपने महत्वपूर्ण लेखन में कहा कि इस ब्रह्माण्ड में मानव प्राणी का नैतिक विकास ही उनका लक्ष्य है। उच्चतम सत्य की प्राप्ति मानव के सात्विक—नैतिक विचार और बुद्धितत्त्व से प्राप्त की जा सकती है। देवात्मा ने इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु अनेक ग्रंथों की रचना भी की है।

देवात्मा के मानववाद का आधार उनका प्रकृतिवाद है, इसलिये उनका मानववाद **प्रकृतिवादी मानववाद** कहलाता है। उनके मानववाद का अध्ययन करने के लिये सर्वप्रथम उनके प्रकृति या 'नेचर' तत्त्व की व्याख्या आवश्यक है।

देवात्मा प्रकृति या **नेचर** को ही एक मात्र सत्ता मानते हैं और पारलौकिक सत्ता का निषेध करते हैं। उन्होंने परमसत् के रूप में ब्रह्म या ईश्वर की सत्ता को नकारते हुए ईश्वर और प्रकृति दोनों की पृथकता को स्वीकार किया, क्योंकि यदि दोनों के बीच तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, तो दोनों अर्थशून्य हो जायेंगे। एतदर्थ, प्रकृति मात्र का ही अस्तित्व है। कतिपय विचारक ईश्वर को ही प्रकृति का दूसरा नाम देते हैं। परन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यदि ऐसा है, तो ईश्वर प्रकृति का स्रष्टा नहीं हो सकता। इसीलिये देवात्मा ईश्वर को भौतिकविदों का विखरित या खण्डित अणु (Split Atom) कहते हैं, जो निश्चित रूप से पूजा, आराधना, निर्देशन एवं प्रेरणा प्रदान करने योग्य नहीं हो सकता है, क्योंकि वह भले ही अत्यन्त सक्रिय, गतिशील एवं शक्तिशाली

हो, परन्तु सगुण, साकार ईश्वर नहीं। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि देवात्मा प्रकृतिवादी है, भौतिकवादी नहीं। वे नेचर को जड़ एवं शक्तियुक्त मानते हैं। वे स्वयं कहते हैं, 'जड़ और शक्ति से संयुक्त सब प्रकार के अत्यन्त छोटे और अत्यंत बड़े, जीवित और अजीवित अस्तित्व से विशिष्ट एक और पूर्ण अस्तित्व का नेचर है।'<sup>४</sup> इस प्रकार नेचर की ही एक मात्र सत्ता है और उसके सत्य रूप में और उसी के द्वारा ही हमारा अस्तित्व है, अर्थात् हम उस पर पूर्ण रूप से आश्रित व आधारित हैं। देवशास्त्र में अत्यन्त सुन्दर शब्दों में **नेचर** की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

‘नेचर के बिना मैं कुछ भी नहीं,  
मेरा अस्तित्व यह कुछ भी नहीं।  
नेचर से स्वतंत्रतर कुछ भी नहीं,  
कोई अस्तित्व हि कुछ भी नहीं।'<sup>५</sup>

नेचर विशाल एवं व्यापक तत्व है, वह अद्भुत एवं असीम है। इस जीवन के सभी तत्व उसी में समाहित हैं। नेचर की इस व्यापकता से ब्रह्म या ईश्वरत्व का बोध होता है। परन्तु देवात्मा स्पष्टतः ब्रह्म के दोनों रूपों—निर्गुण एव सगुण को अवैज्ञानिक मानते हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे ब्रह्म को इन दोनों से परे या इन दोनों का समन्वय मानते हैं। प्रो० कनल देवात्मा के इन विचारों के समर्थन में बुद्ध एवं रसेल के विचारों का सन्दर्भ देते हैं।<sup>६</sup>

नेचर परिवर्तनशील है। वह अपनी ही शक्ति से सदैव परिवर्तित होता रहता है, ताकि वह अन्यान्य आकारों व गुणों का अपने से विकास कर सके। यह परिवर्तनशीलता निम्न एवं उच्च दोनों हो सकता है। परन्तु यहाँ यह एक प्रश्न उठाना स्वाभाविक है कि क्या उच्चतम सत्ता की परिवर्तनशीलता सम्भव है? कहना न होगा कि परिवर्तनशीलता क्षीणता की ओर ले जाती है, जो अनित्यता का द्योतक है। अध्यात्मवादी चिन्तक इस समस्या की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं कि यदि ऐसा है, तो परिवर्तनशील जड़ प्रकृति एवं नित्य कैसे हो सकता है? क्योंकि ऐसे स्थिति में परमतत्व का विचार स्वतः—विरोधी हो जाता है। परन्तु देवात्मा इस सन्दर्भ के अपने विचारों में बिल्कुल स्पष्ट हैं। उनके अनुसार स्थायित्व मात्र प्राकल्पना है, जो परासत्ता के

सन्दर्भ में ले जाती है। बुद्ध एवं ह्यूम ने भी इसी तथ्य को प्रकाशित किया है। वे मानते हैं कि मन या आत्मा में भी प्रत्ययों, संवेदनाओं, इच्छाओं आदि का एक निरन्तर धारा प्रवाह चलता रहता है। वे स्पष्टतः दुहराते हैं— ‘To be is to Change’- अर्थात् ‘परिवर्तनशीलता ही सत्ता है।’ यह परिवर्तनशीलता अवैज्ञानिक एवं अस्त-व्यस्त नहीं है। वे इसमें नियंत्रित, निरन्तर एवं क्रमबद्ध परिवर्तनशीलता के नियमों को स्वीकार करते हैं। देवात्मा विभिन्न ग्रहों, उपग्रहों जैसे पृथ्वी आदि पर क्रियान्वित अटल नियमों से इसे प्रमाणित करने की चेष्टा भी करते हैं। वे स्वयं कहते हैं, ‘नेचर के सब नियम अटल हैं और नेचर अपने प्रत्येक नियम के लिये सदा सच्ची रहती है।’<sup>७</sup> वे पुनः कहते हैं ‘नेचर परिवर्तनशील, किन्तु अविनाशी और नित्य रूप है। वह काल के विचारों से आदि-अंत रहित नित्य और स्वयंभू है।’<sup>८</sup> इतना ही नहीं, वे नेचर को अत्यन्त व्यापक मानते हुए कहते हैं कि यह समस्त ग्रह—नक्षत्रों, भौतिक वस्तुओं, पेड़—पौधों तथा प्राणियों की महासमष्टि है, जो निरन्तर परिवर्तनशील है।

देवात्मा नेचर के जड़ रूप एवं उसकी परिवर्तनशीलता के साथ-साथ उसे शक्ति रूप भी मानते हैं। बल्कि यह कहा जाय कि नेचर में एक प्रकार की वस्तु का नाम **जड़** और दूसरे प्रकार की वस्तु का नाम **शक्ति** है। प्रकृति की सभी परिवर्तनशीलता का कारण **शक्ति** है। शक्ति के दो मुख्य प्रकार हैं— जीवित एवं अजीवित। देवात्मा विद्युत, ताप, प्रकाश और चुम्बक नामक अजीवित शक्तियों के अतिरिक्त जीवन-विशिष्ट परन्तु गड़न-विहीन शक्ति तथा इनसे ऊपर जीवन-विशिष्ट तथ गड़नयुक्त शक्ति, जो उद्भिद् , पशु और मनुष्य जगत के जीवित शरीरों में पायी जाती है, को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत नेचर की ही शक्तियों से भरा पड़ा है।

प्रकृति से विकसित जड़, प्राण मन की सत्ताओं में मानव एक सर्वश्रेष्ठ तत्व है। देवात्मा की दृष्टि से मनुष्य किसी अतिप्राकृतिक सत्ता या ईश्वर आदि पर आश्रित न होकर एक स्वतंत्र तत्व है। इसलिये वे ईश्वरवादी दार्शनिकों के विपरीत मनुष्य के अध्ययन को अपने दर्शन का मूल उद्देश्य मानते हैं। उनके मतानुसार जगत के अन्यान्य सभी विषयों का अध्ययन अन्ततः मनुष्य के अध्ययन के अन्तर्गत ही होता है। ये सब मनुष्य के साधन हैं। देवात्मा स्वयं कहते हैं, ‘मैं पहले मनुष्य, फिर मैं विश्व का अंश, इसलिये इन दोनों में मनुष्य तत्व की बहुत बड़ी विशेषता है। मनुष्य होकर यदि मैं अपने

अस्तित्व को ठीक-ठाक न जानूँ और विश्व के सम्बन्ध में किसी अंश में ठीक ज्ञान लाभ भी कर लूँ, तब भी क्या ?'⁹ इस प्रकार स्पष्ट है कि देवात्मा ब्रह्माण्ड के स्वरूप की अपेक्षा मानव को कहीं अधिक महत्व देते हैं और उसके स्वरूप, उत्पत्ति और विकास की पूर्णतः प्रकृतिवादी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। एतदर्थ, उनका दर्शन **प्रकृतिवादी मानववाद** कहा जाता है, जो आध्यात्मिक मानवतावाद के विपरीत एवं एम०एन० राय तथा नरसिंह नारायण अथवा पं० नेहरू के मानववाद के नजदीक है, तथा पश्चिम के प्रकृतिवादी मानववाद से प्रभावित एवं भौतिकवादी दृष्टिकोण से इसकी व्याख्या करता है।

देवात्मा प्रकृतिवादी मानववाद के प्रस्तोता हैं, जिसका तात्पर्य किसी अलौकिक, आध्यात्मिक सत्ता में विश्वास न कर इहलौकिकता में विश्वास करते हुए मानव की श्रेष्ठता को स्थापित करना है। इसका अर्थ है धर्म या धर्म—प्रतिपादित अतिलौकिक, अतिप्राकृतिक सत्ता एवं धार्मिक प्रक्रिया या आध्यात्मिक संस्थाओं की अस्वीकृति। यहाँ यह कहने में कोई संकोच नहीं है इसके बावजूद भी देवात्मा को धर्म की मूल भावना से असहमति नहीं है। उनके इहलौकिकता या प्राकृतिक सत्ता की स्वीकृति के पीछे कारण था कि वह अतीन्द्रिय, अबौद्धिक न होकर बौद्धिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी पद्धति पर आधारित है। इसलिये उन्होंने धार्मिक मूल्यों के स्थान पर मानवीय एवं वैज्ञानिक मूल्यों को स्वीकार किया, जिसमें शाश्वत सत् के स्थान पर विकासवादी प्रक्रिया को स्वीकार किया गया, क्योंकि नेचर जिसकी मौलिक सत्ता देवात्मा स्वीकार करते हैं, जड़ एवं शक्ति युक्त है, जो विकासवान एवं गतिशील है। प्रकृति का वैशिष्ट्य यह है कि वही एक मात्र सत् है और जो सत् है, वह अवश्य ही वैज्ञानिक विधि द्वारा प्रमाणित है।

देवात्मा नरसिंह नारायण की भाँति मानते हैं कि मानववाद के लिये परमसत् जैसे किसी तत्वमीमांसीय आधार की आवश्यकता नहीं है। बौद्धिक अनुशासन के रूप में हम दर्शन के मूल्य से इंकार नहीं कर सकते और सभी सत्ताओं में उसका प्रमुख स्थान है, क्योंकि वह जीवन और जगत का केन्द्र-बिन्दु है। वह प्रकृति का मुख्य अंश है, यद्यपि वह विकास के अनवरत क्रम का परिणाम है। इसलिये यह मानना तर्क संगत नहीं है कि मनुष्य सदा से ही पृथ्वी पर अस्तित्व रखता है अथवा वह परासत्ता का अंश है अथवा उसके द्वारा मनुष्य का सृजन किया गया है। यह केवल प्रकृति है, जो मनुष्य को

समस्त ज्ञान प्रदान करती है और यह ज्ञान विश्वसनीय एवं तथ्यपरक है । उसे जानना अनिवार्य है ।<sup>१०</sup>

देवात्मा मनुष्य को जड़ एवं चेतन का एक संयुक्त रूप मानते हैं । वे कहते हैं, 'आत्मा और शरीर नामक दो विशेष प्रकार के गड़न प्राप्त जीवित वस्तुओं से संयुक्त व्यक्ति मनुष्य है ।'<sup>११</sup> परन्तु यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'आत्मा' से तात्पर्य किसी आध्यात्मिक सत्ता, उसके अजर, अमर, नित्य और शाश्वत रूप से न होकर एक जीवनीशक्ति के रूप में है और यही शक्ति ही मानव—शरीर, पशु—शरीर और वनस्पति—शरीर की सर्जक है, जो विकास क्रम में अपना अस्तित्व पाते हैं । एक जैवकीय वैज्ञानिक की तरह देवात्मा ने **देवशास्त्र** के विभिन्न अध्यायों में मानव विकास की व्याख्या करते हुए कहा है कि आत्मा के अभाव में इस पृथ्वी पर न वनस्पति, न पशु अथवा न मनुष्य ही होता, क्योंकि इन सभी के अस्तित्व में आत्मा (जीवनी शक्ति) ही मौलिक रूप में विद्यमान है । यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि देवात्मा एक बहुतत्ववादी विचारक के रूप में आत्माओं की भिन्नता को मानते हैं तथा उसके आकार भी भिन्न-भिन्न बताते हैं । देवात्मा दर्शन का वैशिष्ट्य यह है कि वे जहाँ एक ओर मानव की जैवकीय व्याख्या करते हुए उसे प्रकृति की उपज मानते हैं, वहीं दूसरी ओर उसकी विवेकशीलता के लिये भी प्रतिबद्ध हैं । बिना उसे स्वीकार किए वैज्ञानिकता की स्वीकृति भी संभव नहीं है ।

देवात्मा ने अपने मानववाद में मानव को अस्तित्ववान माना है । वैसे तो कहा जाता है कि मनुष्य एक विचारशील प्राणी है, परन्तु देवात्मा अस्तित्वादी सार्त्र के इस विचार से सहमत होते हुए कि 'मानव अस्तित्व' को स्वीकारते हैं । बिना अस्तित्व के उसके विचारवान होने का प्रश्न ही नहीं उठता । वे आदर्शवाद की बजाय अस्तित्वाद में तथा धर्म की बजाय विज्ञान में विश्वास करते हैं । देवात्मा के मानववाद में मनुष्य अस्तित्व रखता हुआ धार्मिक अंधविश्वास की दासता से मुक्ति पाकर स्वयं अपने को पर्याप्त मानता है । एम०एन० राय का अध्यात्मवादी स्वतंत्रता का भी यह अर्थ है । वे कहते हैं कि मानव स्वयं सत्ता का मापक है और सभी सत्तायें मनुष्य में ही अन्तर्निहित हैं । इसीलिये मानव स्वयं अपना लक्ष्य निर्धारण कर सकता है । ऐसा वह स्वतंत्र स्थिति में ही कर सकता है । इसलिये देवात्मा ने एम०एन० राय की भाँति मानव के पूर्ण स्वतंत्रता को

स्वीकार किया है, क्योंकि वह किसी परासत्ता के आधीन नहीं है और न ही मानवेतर किसी तत्व या प्राणी की। यहाँ यह विचेचित करना असंगत न होगा कि प्रारंभ में देवात्मा यत्नपूर्वक ईश्वर को अपने प्रेम बढ़ाने का साधन माना करते थे और उनका यह उनका अन्धविश्वास था कि ईश्वर की मानव आत्मा का मोक्षदाता, उसका विकासकर्ता है। परन्तु १८८२ के पश्चात् वे स्वयं अपनी आत्मा में देवशक्ति का अनुभव करने लगे। जे० फाइस मानते हैं कि 'देवशास्त्र में स्वतंत्र इच्छा वाले ईश्वर जैसे किसी चरमतत्व की अवधारणा नहीं है और न तो विज्ञानसम्मत विकासवाद के मानने वाले देवशास्त्र में कोई सृष्टि का नियंत्रण, सर्वतंत्र ईश्वर है, जिसकी लीला यह जगत है।'<sup>१२</sup> इस प्रकार मानव एक स्वतंत्र प्राणी है, उसकी इच्छा पर स्वयं उसका नियंत्रण है। उसे अपनी स्वतंत्रेच्छा से मानवता में गुणात्मक जीवन के लिये कार्य करना है। To work for quality life is humanity - यही उसका उद्देश्य भी है। अपने मानव धर्म (देवधर्म) में वे किसी अतिप्रकृतिवादी रहस्यवाद को नहीं मानते और न अंधविश्वास या कुसंस्कारों को अपने धर्म में स्थान देते हैं। यहाँ वे कामटे के मानवतावादी धर्म (Religion of humanity) से साम्यता रखते हैं। बल्कि यह कहा जाय कि वे इससे भी आगे बढ़कर अधिक व्यापक उदारतावादी धर्म को स्वीकार करते हैं। वस्तुतः देवात्मा के मानव में मनुष्य के साथ-साथ निर्जीव पदार्थों, वनस्पतियों एवं पशुओं तथा स्वयं मनुष्य के प्रति सेवा एवं उदारता का भाव विद्यमान है। प्रो० कनल कहते हैं, 'देवात्मा मनुष्य के पशु, वनस्पति तथा निर्जीव वस्तुओं के प्रति कर्तव्यपालक को उसी प्रकार उच्चतर धार्मिक जीवन के लिये अनिवार्य भाग मानते हैं, जिस प्रकार मनुष्य का मनुष्य के प्रति कर्तव्यपालन अविच्छिन्न भाग है।'<sup>१३</sup>

देवात्मा के मानववाद का अत्यन्त महत्वपूर्ण पक्ष है, उसका मूल्यात्मक पक्ष। वे भले ही आध्यात्मिक सत्ता में विश्वास न करते हों, परन्तु जहाँ तक नैतिक मूल्यों का प्रश्न है, देवात्मा एक अत्यन्त संतुलित एवं श्रेयस्कर नैतिक आदर्श स्थापित करते हैं। उन्होंने उचित एवं अनुचित, शुभ एवं अशुभ के बीच बड़ा स्पष्ट अंतर किया है। उनके अनुसार वह कार्य उचित है, जो अपने समाज में दोनों का कल्याण करता है। इसी प्रकार उन्होंने गीता की तरह भोगवाद एवं संन्यासवाद के मध्य का रास्ता अपनाया है, यही मार्ग संतुलन का मार्ग है।

मानव के नैतिक मूल्यों को स्थापित करते हुए उन्होंने अनुराग एवं घृणा की विवेचना की और कहा है कि मानव का आदर्श **उच्च अनुराग एवं उच्च घृणा** को अपनाना है। यही शुभ है। साथ ही उन्होंने यह भी माना कि उसे निम्न अनुराग एवं निम्न घृणा का त्याग करना चाहिए, क्योंकि ये अशुभ हैं। यही शारीरिक एवं मानसिक दोनों स्वास्थ्य के लिये उचित है। अनुराग का तात्पर्य भौतिक विषयों की आसक्ति नहीं, अपितु यह आसक्ति है, सद्कर्मों के प्रति अर्थात् दूसरे प्राणियों या मनुष्यों के प्रति दया, परोपकार, सहयोग, सहानुभूति, कृतज्ञता, न्याय, श्रद्धा आदि पुण्य भाव की, जिसे उन्होंने विश्लेषित किया है। दूसरों के दुःख से दुःखी होना और हर संभव सहयोग करना, ऐसा करने से अपने हृदय में जो सुखद भाव का अनुभव हो, वह उच्च सुख या अनुराग है।<sup>१४</sup> मानव को इस उच्च अनुराग का संरक्षण एवं विकास करना चाहिए। इसी प्रकार उच्च घृणा भाव का निर्देश कोई व्यक्ति या वस्तु न होकर उसमें निहित अशुभ है। वे कहते हैं कि किसी मनुष्य में दुष्कर्म के प्रति जितनी मात्रा में घृणा की उत्पत्ति होती है, वह उतना ही उसके विकास में सहायक होता है, जैसे किसी को हानि पहुँचाने की प्रवृत्ति से घृणा, सभी बुराइयों से घृणा, आदि उच्च घृणा के अन्तर्गत आते हैं। इसी प्रकार निम्न राग एवं निम्न घृणा दोनों त्याज्य हैं, ऐसा करने से ही आत्मचैत्यनता आयेगी। निम्न अनुराग के अन्तर्गत शरीर, संतान, भौतिकता की प्राप्ति, अहंकार तथा अन्य स्वार्थमय कार्य तथा निम्न घृणा, जो सर्वाधिक बुराई है, में ईर्ष्या, क्रूरता, विध्वंस की इच्छा, प्रतिशोध आदि को सम्मिलित किया जाता है। वस्तुतः हमारे सद्विचार एवं सद्कर्म, जीवन के सभी अंगों के लिये किया जाना आवश्यक है; वह चाहे भौतिक पदार्थ हो, वनस्पतियाँ या पशु या मनुष्य, जिससे कारण जीवन के सभी स्तर, चाहे वे वैचारिक हों या भौतिक, में एक विवेकशीलता एवं वैज्ञानिक संतुलन बना रहता है। प्राकृतिक असंतुलन होने पर जैसे सूखा, बाढ़, भूकम्प आदि होते हैं, जिन्हें संतुलन स्थापित कर रोका जा सकता है और सुख तथा शांति का जीवनयापन हो सकता है। इस प्रकार के नैतिक आदर्शों को प्रस्तुत करने का देवात्मा का लक्ष्य है, मानव-कल्याण और उसका विकास। वे प्रकृति के मध्य रहकर भी सदैव मानव-हित व विकास से ओत-प्रोत हैं। यह उनके मानववादी दृष्टिकोण का परिचायक है।

देवात्मा का मानववाद मानव को उसके श्रेष्ठतम स्तर तक पहुँचाता है। वे मानते हैं कि समस्त विकास के मूल में प्रकृति है। विश्व की समस्त अभिव्यक्ति जड़ एवं शक्ति के समन्वयात्मक सहयोग का परिणाम है, जिससे असंख्य जीवित एवं अजीवित अस्तित्व विकसित होते हैं, जो जड़ या भौतिक वस्तुओं, वनस्पतियों, प्राणियों से होते हुए मनुष्य के उच्चतम स्तर तक विकसित हुए हैं। यह मनुष्य है, जिसकी बौद्धिक चेतना के कारण प्रकृति के नियमों की खोज हो सकी है। देवात्मा कहते हैं, 'मनुष्य ने नेचर के विकास के क्रम में पशु जगत की अपेक्षा अपने मस्तिष्क में जिन-जिन उन्नतिशील मानसिक शक्तियों की प्राप्ति की, विशेषतया लाभ की, उन शक्तियों की काल के साथ धीरे-धीरे वृद्धि होने से क्या भौतिक, क्या उद्भिद् और क्या पशु जगत की उन्नति का रुका हुआ मार्ग भी पहले की अपेक्षा अधिक खुल गया।'<sup>१५</sup> मानव के आविर्भाव के साथ ही मानसिक या बौद्धिक विकास हुआ और आगे मूल्यात्मक विकास हुआ। मनुष्य अपने अंदर उच्चतर गुणों का विकास कर उच्चतम मूल्यों की प्राप्ति कर सकता है।

विकास का अगला लक्ष्य है, विश्व में श्रेष्ठ आत्माओं (मनुष्यों) का विकास। इस क्रम में यह महत्वपूर्ण परिवर्तन है। देवशास्त्र में यह स्वीकार किया गया कि श्रेष्ठ परिवर्तन लाने के लिये नेचर ने विकास विषयक अटल नियमों के अनुसार ऐसे पुरुष का प्रकट होना नितान्त आवश्यक था और यह श्रेष्ठ पुरुष देवात्मा है। देवशास्त्र में माना गया है कि योग्य मानव या अधिकारी को सभी प्रकार के असत्य शिक्षा असत्य भाव या धर्म और उसका धार्मिक क्रिया-कलाप, संस्कार, अशुभ विचार, कर्म एवं भाव से पूर्ण मुक्त रहना चाहिये।

देवशास्त्र के तृतीय खण्ड में कहा गया कि अशुभ कृत्यों, भावों एवं विचारों से पूर्ण मुक्ति तथा सात्विक विचार, भाव एवं कर्म को प्रकृति के अपने नियमों के अनुसार विकास करने हेतु, जिससे सम्पूर्ण मानव जाति का अधिकतम समन्वित शुभ संभव है, इस पृथ्वी पर शुद्ध सात्विकता से युक्त देवात्मा का प्रादुर्भाव हुआ, जो पूर्ण प्रेम, सत्य एवं शुभ के चैतन्य से ओत-प्रोत है।<sup>१६</sup> इसमें सत्य और शुभ की सात्विक चेतना या **देव-बोध** है, तो सात्विक सत्य एवं शुभ का प्रेरक या **देव-अनुराग** भी है, जो उसे अन्य मानव से पृथक करता है। उच्चतम सात्विक शक्ति **देव-तेज** को देवात्मा ने अपने आत्म में प्रकृति के विकास-प्रक्रिया के अनुसार विकसित किया गया है, जिससे उच्च अनुराग

एवं उच्च घृणा की प्राप्ति तथा निम्न अनुराग व निम्न घृणा से निवृत्ति की जा सकती है । देव-ज्योति से आत्म-जगत का अंधकर मिट गया और **देव-तेज** का विकास हुआ । फलस्वरूप देवात्मा का आविर्भाव हुआ, जिसमें पूर्ण सात्विक सत्य, प्रेम और शुभ विद्यमान है । इस अवस्था में किसी भी प्रकार की दासता या परतंत्रता नहीं है और देवात्मा पूर्ण स्वतंत्र, पूर्ण तेज से युक्त है । प्रकृति की वैकासिकी प्रक्रिया में वस्तुओं से जीवित वनस्पतियाँ उच्चतर हैं, वनस्पतियों से जीव उच्चतर हैं, या पशुओं से मनुष्य, इसी प्रकार मनुष्यों से देवात्मा उच्चतर हैं ।<sup>१७</sup>

इसका तात्पर्य है कि मानव में विकास की असीम संभावनायें हैं । वह अपने को जागतिक दासता से मुक्त कर पूर्ण स्वतंत्र मानव बना सकता है, परन्तु इसके लिये उसे देवात्मा द्वारा बताए गए समस्त सात्विक मार्गों का अनुसरण करना होगा । कुछ मनुष्यों में यह संभावना उच्च विचार व सद्भावना के रूप में उसके पूर्वजों के द्वारा निहित रहता है और प्रकृति की उचित (favourable) परिस्थितियों के उत्पन्न होने पर उसमें देव ज्ञान का विकास हो जाता है, उसे **दिव्यज्योति** प्राप्त हो जाती है, जो वह जीवन की पूर्णता प्राप्त कर लेता है ।<sup>१८</sup> देवात्मा ने स्वयं देवज्योति प्रदान करने के पश्चात् मानवजाति के समक्ष इस उच्चतम आदर्श को प्रस्तुत किया है और संदेश दिया है —

सत्य शिव सुन्दर हि, मेरा परमलक्ष्य होवे,

जग के उपकार हि में, जीवन यह जावे ।<sup>१९</sup>

हम सभी जीवन के इसी लक्ष्य— **सत्यम् शिवम् सुन्दरम्** की प्राप्ति का होना चाहिए । सम्पूर्ण मानवता के विकास के हेतु उनका यह उपदेश उनके सच्चे मानववादी होने का प्रमाण है, जो स्वयं श्रेष्ठ आत्मा बनकर अन्य मनुष्यों को भी इसी लक्ष्य की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करते हैं ।

रीडर, दर्शनशास्त्र विभाग  
का०न०रा०स्ना० महाविद्यालय ज्ञानपुर,  
(सन्त रविदासनगर) भदोही, उ०प्र०

## संदर्भ

१. प्रो० एस०पी० कनल — Naturalism in Modern India  
Philosophy. page-61
२. Encyclopaedia of Social Sciences, Vol. 7-8, page-541
३. एस० एन० अग्निहोत्री — देवशास्त्र, खण्ड २, (भूमिका) ।
४. देवशास्त्र, प्रथम खण्ड, पृ० ३ ।
५. वही, पृष्ठ ६ ।
६. प्रो० एस०पी० कनल-What Devatma can offer you, पृ० २-३
७. देवशास्त्र, प्रथम खण्ड, पृ० ५१ ।
८. वही, पृ० ४३ ।
९. उ० च० १/खण्ड १, अध्याय २९, पृ० १९८ ।
१०. पी०वी० कनल — Revolution in religion, पृ० ११ ।
११. एस० एन० अग्निहोत्री — देवशास्त्र तृतीय खण्ड, चतुर्थ अध्याय, पृ० ८ ।
१२. जे० फाइस, देवधर्म — निरीश्वरवादी धर्म का अद्भुत उदाहरण — देवात्मा  
दर्शन: बहुविध विवेचन, (सम्पा० के०के० मित्तल), पृ० ४१३ ।
१३. प्रो० एस०पी० कनल — An introduction to Devadharm, पृ०  
६३ ।
१४. देवशास्त्र भाग ३, (The Philosophy of Man) अध्याय १९, पृ०  
११३ ।
१५. देवशास्त्र, प्रथम खण्ड, पृ० ५९-६० ।
१६. देवशास्त्र, तृतीय खण्ड (The Philosophy of Man) पृ० ५३ ।
१७. वही, पृ० ५६ ।
१८. वही, पृ० ७६ ।
१९. वही, पृ० १९४ ।

